बखत

समय और साहित्य को समझते बूझते हुए

नवम्बर 2023 | अंक : पाँचवाँ | कभी-कभार | प्रभात पर एकाग्र



सत्यनारायण

बखत की बात

बरसों बाद फिर 'बखत' का अंक। बीच में कितना कुछ नहीं सब कुछ बदल गया। न वे टेबलायड रहे और न साप्ताहिक पाक्षिक पत्र-पत्रिकाएं। एक डर एक आशंका के साथ मित्र बराबर चेताते रहे कि आज के समय में साहित्य का टेबलायड अखबार? लेकिन ऐसे ही किसी अवसर पर कथाकार मित्र लवलीन द्वारा कहा गया कथन याद आया कि ''देखण बिच की हरज है।'' जब अंक छपकर आया तो साहित्यकार ही नहीं साहित्य प्रेमी पाठकों ने भी उत्साह से हाथोंहाथ लिया।

'बखत' का चौथा अंक राजस्थानी के उद्भट विद्वान, कवि, नाटककार और आलोचक डॉ. अर्जुनदेव चारण पर केन्द्रित था। अब 'बखत' का यह पांचवा अंक। प्रभात, जब से मैं जानता हूँ, वैसा ही प्रभात है। उसे जब-जब देखा कवि ही देखा। कई बार आश्चर्य होता है कि इस निर्मम समय में कोई ऐसे भी कबीर के बाने में जोखिम उठाते हुए कवि हो सकता है। जीने और लिखने में कोई फांक नहीं। प्रभात एम.ए. में पढ़ रहा था या एम.ए. किया ही था। उसकी एक मित्र मंडली थी जिसमें मनोज, शिवकुमार, प्रमोद, विश्वम्भर, देवयानी, सियाराम आदि थे। राजस्थानी में कहूं तो मैं भी अपने कान कटाकर उन बछड़ों में शामिल हो गया था। शनैः शनैः सभी मित्र अपनी-अपनी नौकरी व काम धंधों में लग चुके थे। इस दुनिया के बीच जीवन जो जीना था। लेकिन प्रभात जब-जब मिला इस सबसे परे अलूफ ही देखा ''डॉ. साहब अपने को क्या करना?''

असल में प्रभात धीरे-धीरे किसी भी नौकरी से परे ठेठ जीवन में रुळता चला गया। बीच-बीच में कुछ दिन कहीं काम करता और छोड़ देता। वह गांव जाना चाहता था। गया भी पर थोड़े दिन बाद ही वहां से लौट आया। और शहर? वह जयपुर से सवाई माधोपुर गया। सवाई माधोपुर से फिर गांव रायसना। रायसना से फिर जयपुर। सवाई माधोपुर और जयपुर के बीच कई बार आवाजाही। यह गांव यह शहर। जीवन की निष्ठुर ध्वनियों के बीच अपनापे भरा जीवन तलाशता रहा, जो शहर में तो था ही नहीं। गांव में भी नहीं बचा था क्योंकि वहां 'दबंग' हावी हो रहे थे। ऐसे में एक संवेदनशील कवि कहां ताके? इन्हीं के बीच जीते खपते कई बार कवि मन बेचैन हो उठता। एक सचेत कवि अपने समय और समाज को लेकर बेचैन नहीं होगा तो कौन होगा? प्रभात को जीवन में हर उस जगह कविता दिखती है जो कभी शायद ही कविता के विषय बने हों। प्रभात गांव को गांव की आंख से देखता है जो असल गांव है और यही असल प्रभात की कविता है।

'बखत' का यह अंक प्रभात पर केन्द्रित है। प्रभात को जब बताया तो वह बराबर संकोच करता रहा। प्रमोद और विश्वम्भर दोनों उसके साथी ही नहीं स्वयं भी कवि और लेखक हैं। दोनों ने प्रभात के साथ विस्तार से बातचीत की। 'बखत' इन दोनों के प्रति अपना आभार प्रकट करता है।

डॉ. अर्जुन देव चारण पर केन्द्रित 'बखत' को पाठकों का भरपूर स्नेह मिला। लोकार्पण के समय हमने अंक की एक तय कीमत रखी और वहां पर्याप्त संख्या के बावजूद एक भी अंक नहीं बचा। आज भी बराबर मांग है। 'बखत' इस स्नेह से अभिभूत है। 'बखत' विशेष रूप से आभारी है माधव राठौड़ और कमलेश तिवारी के प्रति जिन्होंने डॉ. गजेसिंह राजपुरोहित, कप्तान व विनोद गहलोत के साथ मिलकर अंक के लोकार्पण की योजना ही नहीं बनायी बल्कि उसे कार्यरूप में परिणित किया। इन सबके प्रति अकूत स्नेह और प्यार। ■

एक कवि के संग साथ



विनोद पदरज

प्रभात से परिचय बाद में हुआ पहले उनकी कविताओं से हुआ। इतवारी पत्रिका के सम्पूर्ण पृष्ठ पर उनकी कविताएं छपी थीं एक साथ, सधी हुई और इंटेंस भाषा में, नई भाव भूमि की कविताएं। जिन्हें पढ़कर मैं मंत्र मुग्ध हो गया था, परिचय में छपा था- युवा कवि प्रभात गांव रायसना जिला करौली में रहते हैं। लगा कि इस कवि ने हमारे अंचल के दुख सुख के अंगारों और फूलों को अपने हाथों में उठा लिया है। उसी समय लग गया था कि यह हिंदी कविता में नए प्रभात का आगमन है।

प्रगाढ़ता उनके सवाईमाधोपुर आने पर हुई, जहां हमारा दस वर्षों का संग साथ रहा, अच्छे-बुरे में।

मैं उनकी कई कविताओं का प्रथम पाठक रहा और वे मेरी कविताओं के। यहां सम्मान के साथ यह उल्लेख ज़रूरी है कि मेरे तीन संग्रहों को तरतीब देने का श्रमसाध्य काम उन्होंने किया और इसी दौरान मैंने उनकी गहरी पारखी दृष्टि को करीब से देखा।

दस वर्षों के संग साथ में स्वाभाविक है कि मेरे मन में उनकी कई आत्मीय छवियां हों पर मैं यहां दो का उल्लेख करूंगा जिनसे उनके कवि व्यक्तित्व के पहलू खुलते हैं-

(1)

प्रभात ग्रामीण शिक्षा केंद्र में कार्यरत हैं, जिसका वार्षिक सांस्कृतिक आयोजन है, जिसमें कई प्राथमिक स्कूलों की प्रस्तुतियां होनी हैं, स्थल है बोदल की पाठशाला, जो जंगल में स्थित है। उनके बुलावे पर मैं भी गया, देखता हूं- प्रभात धोती कुर्ता पहने हैं और विभोर होकर बच्चों और शिक्षकों के साथ पद गा रहे हैं, जंगल के सन्नाटे में उनकी बुलंद आवाज़ गूंज रही है, वे घेरे की गमक के साथ झुक रहे हैं उठ रहे हैं और समय थम गया है-

वह आवाज़ जिसमें आंधियाँ हैं/आंधियों की नहीं है/वह आवाज़ जिसमें बारिशें हैं/बारिशों की नहीं हैं/पवन झकोरों और बारिश की बौछारों सी काल से टकराती यह आदिम आवाज़/पृथ्वी पर आदमी की है (लोक गायक)

मैं अत्यंत मितभाषी संकोची प्रभात को देख रहा हूं, एक नए रूप में- लोक गायक के रूप में। यह आकस्मिक नहीं कि वे हमारे इलाके के प्रसिद्ध लोक गायक धवले के मुरीद हैं, उन पर उन्होंने पूरी पुस्तक लिखी है, कई वीडियो बनाए हैं, कविताएं लिखी हैं और जब तब उसके पदों को गुनगुनाते रहते हैं- कोई दिन ठपका से फूटेगी काया काच की कटोरी सी।

प्रख्यात कवि कृष्ण कल्पित कहते हैं कि प्रभात नैसर्गिक कवि हैं, जन्मजात कवि, और यह सच है, अगर प्रभात आधुनिक कवि न होते तो संभवत: हमारे यहां के लोकप्रिय लोक गायक होते।

(2)

उनकी दूसरी छवि उनके साथ गांव जाने की है, वही गांव जिसके बारे में प्रभात ने लिखा है- ''जिस गांव की सुखद स्मृतियां सपनों में आती हैं, उसी गांव में जाते अब डर लगता है'' उसी गांव को हम जा रहे हैं

जारी...

(यहां यह लिखना अप्रासंगिक नहीं कि यदि कविताओं के माध्यम से किसी क्षेत्र के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास को लिखा जाए तो हमारे इलाके के लिए प्रभात की कविताएं अत्यंत प्रामाणिक हैं जिसमें बदलते हुए ग्रामीण समाज के तमाम विद्रूप मौजूद हैं)

बीच में मोरा सागर बांध पर रुके हैं, लहराता जल और उसको छूकर आती ठंडी हवाएं, प्रभात स्मृतियों में खो गए हैं, धीमें से हँसते हुए कहते हैं "मेरे काका और काकी इस बंधे में खूब तैर तैर कर नहाते थे" उनकी खोई आंखों में मैं देखता हूं कि वे इस दृश्य को देख रहे हैं और उनके भीतर से खुशी फूट रही है।

हम आगे बढ़ते हैं, सघन बनी को पार कर गांवों से होते हुए रायसना पहुंचते हैं। तलहटी में बसा हुआ गांव, पहाड़ को काटकर बनाई सड़क गढ़मोरा को जाती हुई, जिस पर जीपें चलती हैं, जिनके पर्दे फड़ फड़ बजते हैं, प्रभात की कविताओं में भी हकीकत में भी।

गांव में कहीं जीमणा चूंटना हो रहा है, कई लोग एक घर के बाहर भीतर आ जा रहे हैं पर प्रभात वहां नहीं रुकते जैसे सबसे बचते हैं वे उन परिस्थितियों से बचते हैं जो गांव में व्याप गई हैं जिनके लिए उन्होंने लिखा है "उन्होंने मुझे इतना सताया कि मैं उनकी दुनिया से रेंगता आया/मैंने उनके बीच लौटने की गरज से/बार बार मुड़कर देखा/मगर उन्होंने मुझे एक बार भी नहीं बुलाया"

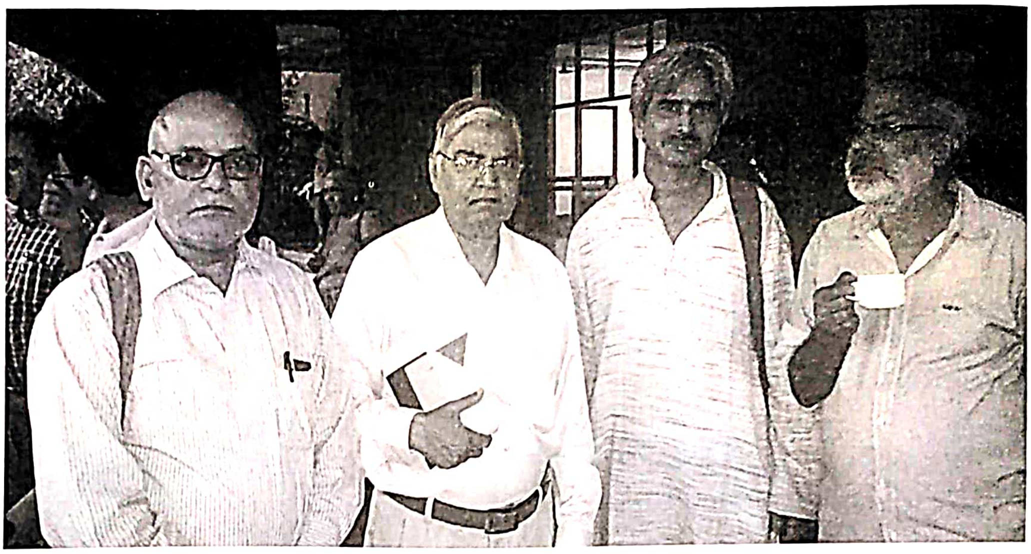
गांव से गुजरते हुए मैं इसके भूगोल को देख रहा हूं प्रभात की कविताओं में पढ़े विरूप को और मधुर स्मृतियों को जिनसे प्रभात का निर्माण हुआ है। मैं गांव में दवंगों के घर देख रहा हूं, विवाह में हत्यारे जंवाई को नई काट के कुर्ता धोती रुमाल लेते देखता हूं सईदन चाची का वंद घर देखता हूं और वहुत सारे आगल लगे सूने घर जो ढह रहे हैं जिनके वाशिंदे छोड़कर चले गए हैं जो कभी नहीं आयेंगे

हम गांव पार करके एक पुराने जर्जर घर में आ गए हैं, पौल के पार चौक में नीम का पेड़ है जिसके पार एक ढहती हुई पाटौर। घर में एक वृद्धा हैं जो प्रभात को देखकर पहचान लेती है वलैया लेती है वार वार, खाने की पूछती है। प्रभात कहते हैं यह ताई है, जिन्हें वे ताई नहीं नाना कहते हैं वे उससे सहज भाव से वातें करते हैं, और मैं प्रभात की मां के वारे में सोचता हूं कि वह होती तो इसी उम्र की होती शायद।

हिंदी में निराला की 'सरोज स्मृति' बेटी की स्मृति में लिखा गया अद्वितीय शोक गीत है पर मुझे कहने दिया जाए कि प्रभात की 'गोवर की हेल' भी मां पर लिखा गया उसी टक्कर का विदारक शोक गीत है निराला की पुत्री सरोज उन्नीस वर्ष की उम्र में गई थी लेकिन प्रभात की मां उन्हें ढाई तीन वर्ष का छोड़कर चली गई जिसकी प्रभात को कोई स्मृति नहीं और जिसकी कोई स्मृति नहीं उसकी स्मृति में लिखी यह कविता हिन्दी में अप्रतिम है

प्रभात इस कविता में वार वार कहते हैं कि जैसा स्त्रियां वताती हैं, और कोई उपाय नहीं मां को जानने का।

वे मां की उस असहाय स्थिति की कल्पना करते हैं जब वह दुख से इतनी विचलित हो गई होगी कि गुस्से में उसने गोवर की हेल उसके



सिर पर पटक दी होगी, डेढ़ दो साल के प्रभात पर, जैसा कि स्त्रियां बताती हैं

प्रभात ने एक जगह लिखा है-जिन्हें मां की याद नहीं आती उन्हें मां की जगह किसकी याद आती है। कहना चाहिए कि प्रभात को मां की जगह मां की ही याद आती है–

मेरे गालों पर अभी भी हैं मेरी मां के चुंबनों के अदृश्य निशान हैं

मैं अभी भी उस पानी को अपने शरीर पर बहते देख सकता हूं

जिसमें मां ने मुझे नहलाया

मां के वस्त्रों की गंध आज भी मेरे नथुनों में भर जाती है

जिनमें लिपटकर मैं चैन से सोया

ये विवरण इतने ममत्व भरे इतने मार्मिक इतने सारे हैं

कि इन्हें जीवन भर लिखते रहना मैं अपने जीवन का मकसद बना सकता हूं

बुखार में आज भी मां के आंसू की बूंद मेरे ललाट पर आकर गिरती है

इस जर्जर घर के सामने एक और घर है पक्का घर जिसे उसके पिता ने बनवाया है, जिस पर ताला लटका है। प्रभात एम ए करने के बाद शहर छोड़कर इसी घर में आकर रहे थे, यहीं विना दहेज के उन्होंने शादी की थी, इसी घर में उनकी कितावें वंद हैं यहीं से उन्हें जाना पड़ा था, प्रभात उधर नहीं जाते

नाना से विदा लेकर हम अव गढ़मोरा के रास्ते पर हैं। वीच में एक छोटी सी पुलिया है जहां हम रुकते हैं, वहां एक सांवला हट्टा कट्टा युवक कांधे पर लट्ठ रखे भैंसें चरा रहा है, प्रभात उसे पहलवान कहता है और वह प्रभात को नत्थू नाम से पुकारता है, वह पुलिया पर बैठ गया है, प्रभात मुझे अपने खेत दिखा रहे हैं, बहुत उपजाऊ मिट्टी वंधे का पेटा।

इन्हें देखते हुए मैं हरी मक्खी को देख रहा हूं जो प्रभात की कविताओं में उड़ती है, उन स्त्रियों को देख रहा हूं, लावणी के दौरान जिनकी वाहें डंठलों की नमी से भीग सी गई हैं, यद्यपि अभी ज्वार नहीं है पर मैं प्रभात की कविता के ज्वार के खेतों को देखता हूं जिन पर उसने जीवनानंद दास की टक्कर की कविता लिखी है-

दूर दूर तक फैले हैं ज्वार के खेत/पकी ज्वार के पेड़ों में/भुट्टों के दानेदार दूधिया फल लगे हैं सफेद सफेद/जहां तक पहुंचती है दृष्टि/ज्वार ही ज्वार खड़ी है जंगल में/ज्वार के खेतों में डोल रहे हैं जंगली चूहे सांप नेवले और सियार/हिरणियां बच्चे जन रही हैं अपने यहीं/चकरी सेंध फूट की गंध है फैली हुई/हवा बह रही है ज्वार के पेड़ों के खेतों में/संगीत बज रहा है वन निर्जन का/अरअराट फैला हुआ है सब ओर/सूर्य गिर गया है ज्वार के दूर दूर तक फैले हुए/खेतों के उस तरफ/खेतों के ऊपर उड़ रहा है एक पक्षी/ज्वार के खेतों के ऊपर/थके हुए पांखों से जाता हुआ कोई पक्षी

प्रभात में सामान्य दृश्यों को अनूठे रचनात्मक अनुभव में बदल देने का अद्भुत कौशल है

मैं कविता से लौटकर पुलिया के नीचे देखता हूं जहां थोड़ा पानी है जिसमें बबूल के पीले फूल तैर रहे हैं

हम गढ़मोरा होकर लौट आए हैं और गांव से गुजरते हुए वापस माधोपुर आ रहे हैं। बादल घिर रहे हैं, बूंदे टपकने लगी हैं अब धारासार बरस रहा है, हम थोड़ी देर भीगते हुए चलते हैं फिर एक स्कूल के बरामदे में रुक जाते हैं

मैं चुप हूं और बरसते में उनकी असंख्य कविताएं याद कर रहा हूं पर्दे में लोक गीत गाती स्त्रियां, ऊंटगाड़ी में बैठी स्त्रियां, समारोह में मिली स्त्रियां, रुलाई, हार, बुआ, शाम, पीला फूल चांद, जोहड़, पानी की बस्ती, गीला भीगा पुआल, नदी, पानी की बेल, भादों की सांझ, भादों में याद, गाय, सांझ में धुली पृथ्वी और पाटौर में अभिसार के बाद लहंगा सरसराती, अंधेरे के समुद्र में पांव धरती युवती या वह घरनी जिसे जगा देखकर कोई पानी मांगता है कोई आग जिस पर ओस झरती है या उन पिता पुत्र को देखता हूं जो दुपहरी करने घर आते हैं मूंगफली की चटनी खोंटते हैं रोटियां खाते हैं और लौट जाते हैं।

स्कूल के बरामदे में खड़े खड़े मुझे उनकी पैंतीस पृष्ठों की दीर्घ कविता 'प्रायमरी स्कूल का अध्यापक 'याद आती है जो उन्होंने लगातार तीन दिन तीन रात जागकर संभव की है जिसमें कहीं कोई झोल नहीं, इतनी लंबी कविता साधने वाले प्रभात अपनी पीढ़ी में अकेले हैं। मैं खोए हुए प्रभात को देखता हूं जो गांव की जगह गांव को ही याद करते हैं जिनकी सारी यादें सताई हुई नहीं हैं।

(3)

आज प्रभात जयपुर में रहते हैं वे आजीविका के लिए वच्चों के साहित्य लेखन का कार्य करते हैं, वहुत सारे अनौपचारिक औपचारिक शिक्षा पाठ्यक्रमों के रिसोर्स पर्सन हैं वे चाहते तो तत्समय किसी कॉलेज में प्राध्यापक हो सकते थे पर उन्होंने साहित्य का विकट मार्ग चुना है

पिता के साथ उनके द्वंद्वात्मक रिश्ते हैं, पिता को वे भाया कहते हैं जिन पर उन्होंने कोई कविता नहीं लिखी है, इसे समझना अभी शेष है।

भाया के अलावा छोटे से परिवार में उनकी पत्नी सुनीता और बेटी खुशी हैं जो चित्रकला में जुटी हैं और बेटा नील क्रिकेट में।

वे विलक्षण कवि हैं बहुत गाढ़े रंगों का इस्तेमाल करते हैं, क्रूर यथार्थ को रचने में बहुत ठंडी छीलती हुई और मधुर स्मृतियों के सृजन के लिए तरल भाषा का इस्तेमाल करते हैं और इस समय देश के हिंदी भाषी क्षेत्र के बेहद चहेते कवि हैं। इन दिनों वे देश की दशा से गहरे विचलित हैं और इसे अपनी कविताओं में व्यक्त करने की छटपटाहट से गुजर रहे हैं। वे घोर स्वाभिमानी हैं, किंचित भी मदद उन्हें अस्वीकार्य है।

तो क्या प्रभात में कमियां नहीं हैं, हां हैं, बहुत कमियां हैं, कमबख्त ग़ालिब में भी थीं, जिनके चलते प्रभात अकेले होते जाने को अभिशप्त हैं उन कमियों को लिखने के लिए इस्मत चुगताई की लेखनी से निकली 'दोजखी' जैसी रचना का सा कलात्मक संयम चाहिए और साहस भी जो मुझे अर्जित करना होगा

मैं उनसे अक्सर नाराज़ रहता हूं कई दिनों तक नाराज रहता हूं, कई कारणों से नाराज़ रहता हूं जैसे कोई ऐसे आदमी से बिना नाराज़ हुए कैसे रह सकता है जो अपने परिवार सहित सारा सामान ट्रक में लादकर जयपुर चला जाए और उस आदमी को भनक भी नहीं लगने दे, जिसके साथ दस वर्ष रहा है

कितना धक्का लगता है जब दूसरे लोग बताते हैं, पर हमारे बीच की बर्फ शीघ्र पिघल जाती है। आख़िर एक कवि से कौन कब तक नाराज़ रह सकता है वो भी प्रभात जैसे प्यारे कवि से। ■

मेरी ज्यादातर कविताओं का केन्द्र बचपन की स्मृतियां हैं

प्रमोद प्रभात के कॉलेज के दिनों का मित्र है। वह स्वयं अच्छा कवि है। अलग एवं अनूठी कविताएं लिखता है पर पत्र-पत्रिकाओं में कविताओं के प्रकाशन के प्रति उदासीन सा। पहला कविता संग्रह छपने की प्रक्रिया में। शिक्षा के क्षेत्र में कई नवाचार किये। इस क्षेत्र में बड़ा नाम। बच्चों के लिए सचित्र कहानी की कुछ पुस्तकें प्रकाशित। प्रमोद ने प्रभात से अपने समय, समाज और बाल-साहित्य पर विस्तार से बातचीत की है। प्रस्तुत है उसी बातचीत के अंश-



प्रभात के साथ प्रमोद की बातचीत

अपने बचपन की स्मृतियों, माँ, पिता के साथ की स्मृतियों के बारे में बताएँ।

मेरी उम्र तब लगभग ढाई साल रही होगी, माँ नहीं रही थी। माँ का होना क्या होता है उस अनुभव से तो मैं गुजरा ही नहीं। उस अभाव को मैं कैसे कहूँ! यह बात मेरी 'नहीं की याद', 'गोबर की हेल' जैसी कविताओं में आई है, और भी कई कविताओं में आई है। किन्हीं क्षणों में मुझे बहुत लगा होगा और तब मैंने उन्हें लिखा होगा।

मगर मैं यहाँ पहले थोड़ा यह बताऊँ कि जो नीली स्मृतियाँ हैं वे क्या हैं! एक स्मृति यह है कि माँ एक बार मामाओं के गाँव में थी, मैं तब छोटा बच्चा था। मेरे ममेरे भाई उस वक्त मुझे गोद में उठाते थे, खिलाते थे, मजाक किया करते थे कि बुआ तेरा बच्चा ये, तेरा बच्चा वो, इस तरह की कुछ मजाक किया करते थे तो वह एक दृश्य याद है।

मामाओं के वहाँ पहुँचे कैसे, रास्ते की कोई याद नहीं है। इस स्मृति के लिए शब्द देना कठिन है। स्मृति में केवल चित्र ही हैं कि मामा का घर था, बाखड़ थी, लेकिन माँ की कोई सूरत याद नहीं है, ना ही कोई कद-काठी याद है कि वह कैसी दिखाई देती थी। मामाओं के गाँव के अलावा एक स्मृति मेरे अपने गाँव की भी है कि हमारे कच्चा घर हुआ करता था, उस कच्चे घर के आँगन में आगे गाय-भैंसे बँधी रहती थी एक छोटा सा चबूतरा सा था, उस पर माँ रावड़ी या कुछ राँध रही थी। अचानक से मकान की भीत ढह गई। भीत ढह गई तो जो जाँवणी थी जिसमें रावड़ी रँध रही थी उसको उठा कर दूसरे घर के चूल्हे पर ले जाकर रखा। यह एक और स्मृति है, जिसमें पिता मुझे छेड़ रहे हैं तो माँ थोड़ा विरोध कर रही है। लेकिन वे सारी बातें दृश्यों में याद हैं। वो विज्युअल्स मेरे दिमाग में टिक गए, लेकिन बातें क्या थीं, ध्वनियाँ क्या थीं, वे ध्वनियाँ नहीं टिकीं।

एक स्मृति यह है कि मुझसे छोटी बहन थी, वह नहीं रही थी। माँ बीमार सी ही थी। मैं पैदा हुआ उसके बाद बहन पैदा हो गई तो माँ बीमार की सी अवस्था में ही रहती थी। ये याद है कि मैंने जाकर घर में देखा तो बाखड़ सूनी थी, घर में कोई नहीं था। अभी माँ कह रहा हूँ तो ऐसा लग सकता है कि कोई बड़ी-बूढ़ी औरत होगी, लेकिन वह तो युवती थी, वह तो बाईस, तेईस साल की उम्र में खत्म हो चुकी थी, तीन-चार बच्चों को जन्म देकर। जिनमें से केवल मैं ही बच सका। तो मैंने जाकर पूछा बहन के लिए- 'सौमेती' नाम रख दिया था उसका- कि वह कहाँ है? तो उसने कहा कि बेटा वह तो मर गई। इसमें भी एक चित्र सा याद है कि माँ लँहगे-लूगड़ी में (हमारे यहाँ स्त्रियों का पहनावा) बैठी है, लेकिन शक्ल याद नहीं है, बिल्कुल भी याद नहीं है। इस तरह दो-तीन दृश्य जुड़े हुए हैं। वह कैसे बोलती थी कुछ भी याद नहीं है। बाकी कुटुम्ब में उनके साथ की स्त्रियों से सुना कि वे मुझे कैसे दुलार से रखती थीं। कहते हैं गीत गाती थी और मुझे कंधे पर बिठाए हुए ही गाती थीं। ये भी कहते हैं कि छोटे कद की थी। पर मुझे तो यही लगता है मेरी माँ, मेरे माँ के कद थीं।

और भी दृश्य हैं, माँ के अलावा भी, शुरुआती बचपन गाँव में ही बीता। छह-सात साल की अवस्था तक गाँव में ही रहा तो वे स्मृतियाँ बहुत हैं। हमारे घर में मेरे बड़े भाया (ताऊ) हैं उनके भी बच्चे मर जाते थे। एक बार उनके बच्चे को हिण्डौन इलाज करवाने ले गए, तब भाया (पिता) हिण्डौन में पोस्टमैन थे। इलाज करवाकर लेकर आए तो बस से वे रोते हुए उतरे, दोनों पति-पत्नी मेरी नाना (ताई) और बड़े भाया तो वह संकेत था कि बच्चा मर गया। यह स्मृति में रहता है अभी भी क्योंकि मैं खेलता था उस बच्चे के साथ। वह पैदा ही हुआ था, मैं दो-ढाई साल का था। तब यह तो नहीं जाना कि नहीं रहना क्या होता लेकिन वह दिखना ही बंद हो गया था कुछ समय बाद। बाद में मुझे सपने आते रहे, उस बचपन में ही जिसमें कि श्मशान में एक बच्चे को गाड़ दिया गया है। मैं फिर वहाँ गया हूँ, वहाँ मुझे ऐसे जानवर दिखाई दे रहे हैं जो बिल्ली जैसे दिखाई दे रहे हैं, बिल्ली से बहुत लंबे हैं, उनकी पूँछ बहुत लंबी है।

मैं जिधर जा रहा हूँ उधर खाई ही खाई होती जा रही है, बीच में एक पगडंडी सी बचती है दोनों खाइयों के बीच में मैं उस पर दौड़ रहा हूँ। आज सोचता हूँ तो लगता है यह मेरे जीवन के रूपक की तरह है। अभी तक का जीवन ऐसे ही बीता है। खैर। तो इस तरह के अजीब से सपने आते रहे। बचपन में मृत्युएँ बहुत देखीं। मेरे आस-पास के बच्चे- मेरे बड़े काका के, बड़े भाया के बच्चे हुए और वे मर रहे हैं, इस तरह की स्मृतियाँ बहुत हैं। गाँव में और लोगों के भी बच्चे मर जाते थे। दो तीन लोग जा रहे हैं और किसी बच्चे के शव को गोद में उठाए जा रहे हैं।

धीरे-धीरे बड़ा होता गया तो और भी स्मृतियाँ जुड़ती गईं। हमारे गाँव में पशु कैसे थे, दूध कैसे निकालते थे और घर की हालत क्या हो जाती थी बारिश के दिनों में। वे सारे दृश्य बहुत सघनता से स्मृति में हैं वे मेरी कविताओं में आए भी हैं।

ये सपने बाद में पीछा करते रहे हैं क्या? अभी भी उनमें से कुछ होंट करते हैं?

बचपन में बहुत आते थे, किशोरावस्था तक खूब आते रहे हैं। अब वे तो नहीं लेकिन डरावने सपने आज भी मेरी नींदें उड़ाते हैं। आगे जब मैं भाया के साथ रहने लगा, दूसरी क्लास से भाया के साथ रह रहा हूँ, महुआ में हम रहते थे। गाँव तो बार-बार जाते ही थे। किशोरावस्था तक तो खूब ही गाँव गया हूँ, आठवीं क्लास से पहले तक। डेढ़-डेढ़, दो-दो महीने गाँव में रहने को मिलता रहा है। मैं देखता था घर में पुरुष हैं तो उन्हें बाहर ही सोना पड़ता था। बड़े काका किसी की चक्की पर सो रहे हैं, बाबा शिवालय में सो रहे हैं, मेरा हमउम्र चचेरा भाई गोपाल भी उनके साथ शिवाले में सो रहा है। औरतें पशुबाड़ों में सो रही हैं, बच्चे भी वहीं कहीं मचोले में सो रहे हैं। मुझे याद है एक बार मैं सो गया, ओढ़ाने को कुछ नहीं तो बुआ ने अपना लँहगा ही ओढ़ा दिया। बीमार हो जाते थे तो कोई इलाज नहीं। गाँव में कभी-कभी एक वैद्य आते थे शंकर शरण शर्मा, वो आते थे, गोलियाँ दे जाते थे, उन्हीं से ठीक होते थे। डीटीटी पाउडर छिड़कने वाले आते थे, पूरे घर ही सफेद हो जाते थे। केवल हमारा घर ही ऐसा नहीं था ज्यादातर लोगों की हालत यही थी। पटेल लोग, सरपंच आदि तो संपन्न थे लेकिन अधिकांश गाँव तो गरीब ही था। खेतों में रहने और खलिहानों की स्मृतियाँ बहुत हैं, उन पर मैंने बहुत कविताएँ लिखी हैं। मेरी ज्यादातर कविताओं का केन्द्र वे बचपन की स्मृतियाँ ही हैं और वे इतनी सघन हैं कि बार-बार आती है और एक तरह से मेरे लिए टूल का काम करती हैं कविता लिखते समय।

जारी...

हो सकता है मैं अब का कोई कटु अनुभव कह रहा हूँ, अपने आप को एक्सप्रेस करने के लिए कोई बात कहना चाह रहा हूँ तो वे स्मृतियाँ कहने का माध्यम बन जाती हैं।

इससे याद आया कि वो एक कविता है- 'राहत'। अभी जब जिक्र कर रहे हैं तो ऐसा लग रहा है कि उस कविता में लगभग आ गया है वो दृश्य।

अब आया है वो कविता लिखने में, जब मैं पैंतालीस साल का हो चुका था।

तुमने पहाड़ देखा है? तुम्हारी कविताओं में गड़रिए हैं, पहाड़ हैं।

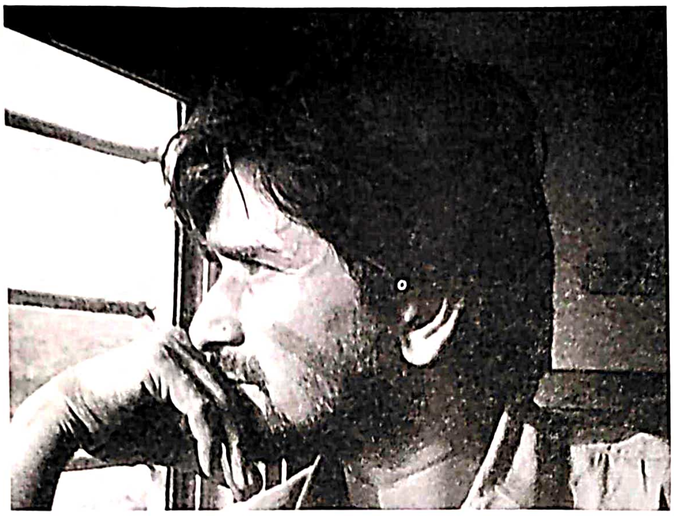
हाँ कॉलेज के दिनों में रहा हूँ। वहाँ काका की पोस्टिंग थी। जब मैं सैकिंड ईयर में पढ़ता था तब दो महीने नाहन में रहा, हिमाचल प्रदेश में। लेकिन कविताओं में राजस्थान के ही गड़रिए और पहाड़ आए हैं। नाहन का अनुभव तो ये है कि वहाँ एक लाइब्रेरी मिल गई उस लाइब्रेरी में रोजाना जाता, वहाँ रामविलास शर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल आदि को पढ़ा। काका कहते थे कि तू यहाँ घूमने आया है कि पढ़ने आया है। वहाँ पहली बार मैंने बादलों को रास्ते से गुजरते देखा, घाटियों से गुजरते देखा, वे दृश्य बड़े अनुपम दृश्य थे। वहाँ की यादें अलग तरह की यादें हैं।

वे आए हैं कविताओं में?

हाँ आए हैं। बच्चों को जेहन में रखकर लिखी गई कविताओं में तो हैं ही।

भाया (पिता) के साथ रहने की स्मृति, पढ़ाई का हिस्सा आदि?

भाया के साथ मैं ज्यादा नहीं रहा। बचपन में एक तरह से माता-पिता दोनों के साथ से ही वंचित रहा। हमारा संयुक्त परिवार था, बड़ा परिवार था, मैं मेरे बड़े भाया (ताऊ) को ही भाया कहता था क्योंकि भाया (पिता) की उस समय पोस्ट आफिस में नौकरी लग गई थी, करौली चले गए थे। चार पाँच साल तक का बचपन मेरा संयुक्त परिवार में ही बीता है। बाबा थे, काका थे, काकी थी, ताई थी ये सब थे, इन्हीं के बीच मैं और सब भाई-बहिनों के साथ पला-बढ़ा हूँ। फिर दूसरी तीसरी क्लास में जब मैं पढ़ता था तब दो साल पिता के साथ रहने का मौका मिला। महुआ में पढ़ता था, तब पहली बार उनके साथ रहा। वह भी इस वजह से कि मैं घोर बीमार पड़ गया था और वहाँ पर देखभाल नहीं हो पा रही थी। चौथी क्लास में भाया का ट्रान्सफर भी गाँव की तरफ हो गया तब भाया और मैं दोनों ही गाँव में रहे। पाँचवीं क्लास में और एक साल भाया के साथ रहा फुलेरा में। भाया और मैं हम दो ही व्यक्ति रहते थे, दो ही व्यक्तियों का परिवार था। छठी में अजमेर भेज दिया, वहाँ एक होस्टल में डाल दिया, वहाँ रहा। सातवीं-आठवीं क्लास में काका ने मुझे रखा। भाया से अधिक काका के साथ रहा हूँ। काका ने ही मेरे बचपन को संवारा। उन्होंने अपना सारा प्यार मुझ पर ही खर्च कर दिया। आगे उनके जो बच्चे हुए उनके लिए शायद कुछ भी बचाकर नहीं रखा। नौवीं क्लास से मैं अकेला ही रह रहा हूँ।



प्रभात रोज-रोज कविताएं नहीं लिखते। पचास की ओर बढ़ते प्रभात रोज-रोज के जीवन से जुड़ी कविताएं जरूर लिखते हैं। उनकी कविताओं का परिसर वह लोक है जहां मनुष्य होने के अपने दुख हैं, सुख हैं। अभाव हैं तो इन अभावों के बीच सांस लेता कवि भी कहीं न कहीं भरा रहता है। राग है तो विराग का अहसास भी है। वह किसी विचार का फतवा फहराने नहीं निकले हैं, लेकिन उनकी कविताओं में वह जरूर है जो मनुष्य को मनुष्य बने न रहने देने वाले इंसानी फितरतों के विरोध में अपने स्वभाव की अनुकूलता छोड़ सामर्थ्य भर साहस का संचार करने की कोशिश में लगी रहती है।

– मनोज मोहन

नौवीं क्लास में ही जयपुर आ गए थे?

नहीं, जयपुर मैं आया था सीनियर सैंकडरी, बारहवीं में। सातवीं से ग्यारहवीं क्लास तक की पढ़ाई मैंने दौसा में की। दो साल तो काका के साथ रहा। मैं और काका अकेले ही रहते थे। काका एलआईसी में सर्विस करते थे। काकी को, काका इसलिए नहीं लाए कि गाँव में हमारे वृद्ध बाबा थे। उनको रोटी कौन दे। नौवीं क्लास से मैं अकेला कमरा लेकर रहने लगा था। खाना बनाने का अनुभव मुझे पाँचवीं से है। छठी में होस्टल में रहा तो मिल जाती थी। सातवीं-आठवीं में काका के साथ बनाता था, मैं सीख गया था सब्जी-रोटी बनाना, घर की साफ-सफाई करना, झाड़ू, बर्तन-कपड़े धोना मैं सीख गया था। आज मेरे बच्चे हँसते हैं, मैं जब कहता हूँ कि यार! तुम अपना काम खुद किया करो तो मेरा मजाक उड़ाते हैं कि अपनी जिन्दगी का छोड़ो, खैर। उनकी माँ है सुनीता, वह कर देती है। दसवीं में फिर काका ने बुला लिया। उनका मेरे बिना मन नहीं लगता था। एक बार भाया मुझे अपने साथ ले गए तो काका एक सप्ताह में ही मुझे भाया के पास से वापस ले आए।

बारहवीं में जयपुर आ गया तो यहाँ मैं अकेला ही रहा। महावीर स्कूल में एडमीशन हो गया। वहीं विश्वंभर मिला मुझे, आनंद गोदीका मिला। ये तब के दोस्त हैं। बीए, एमए के दौरान विश्वंभर के साथ कुछ समय रहा, शायद एक साल ही रहा। मैं ज्यादातर अकेला ही रहा। अकेले रहने का एक फायदा यह रहा कि हर चीज से जूझना पड़ा। कमरा लेना पड़ता था खुद को, ढूँढ़ना पड़ता, अपना काम खुद करना पड़ता था। मुझे कभी कोई एडमीशन दिलाने नहीं गया, हमेशा मैंने खुद ही जाकर एडमीशन लिया।

महावीर स्कूल के बारे में कैसे पता चला? क्योंकि महावीर स्कूल तो उस वक्त जयपुर के कुछ प्रसिद्ध स्कूलों में से एक था।

दौसा में जिस मकान में रहता था उस मकान मालिक के लड़के कहते थे कि हम जयपुर जा कर पढ़ेंगे, वहाँ महावीर स्कूल में पढ़ेंगे। वे तो पता नहीं कहाँ जाकर पढ़े पर मैं आ गया था और उस स्कूल में आकर पढ़ा।

खुद ही एडमीशन लिया?

हाँ खुद जाकर एडमीशन लिया। एडमीशन लेने की प्रक्रिया में ही विश्वंभर मिल गया था, खुद ही जाकर कमरा लिया, रहने के लिए सामान खरीदा, स्टोव लिया। कुछ सामान तो था ही मेरे पास। पहले सिगड़ी पर रोटी बनाता था, बाद में स्टोव आ गया। ये सब चलता रहा।

स्टोव की अपनी जद्दोजहद होती थी, उसके लिए मिट्टी का तेल खरीदने जाना आदि।

हाँ एक हाथ में कविता की किताब रहती थी और एक हाथ में तेल की पीपी रहती थी। ये तो कॉलेज तक चलता रहा। कॉलेज में नए दोस्त मिल गए। अकेले रहने का एक फायदा तो यह रहा कि स्वतंत्र बहुत रहा। कोई ये कहने वाला नहीं था कि इतने बजे घर आना है, यह करना है, ऐसा करना है, वैसा करना है। जो देखना है खुद को ही देखना है।

अकेले रहने में बहुत संभावना अराजक होने की भी रहती है। उससे कैसे बचते रहे?

परिवारों के नज़रिए से देखें तो अराजक भी रहा। फिल्में बहुत देखता जो मुमकिन नहीं था घरों में रहने वाले बच्चों के लिए। मैं नौवीं कक्षा में भी कक्षा को छोड़कर फिल्म देखने चला जाता था कि तीन घंटे वहाँ सुकून से गुजरेंगे। परिवारों में रहने वाले लड़के भी मेरा ऐसे में साथ देते थे। एक-एक फिल्म को चार-चार बार देख लेता था। 'नया दौर' फिल्म मुझे इतनी अच्छी लगी कि छह-सात बार देखी। एक कारण यह भी रहा कि दौसा में जब रहा तो एक संरक्षण काका का तो रहा ही। काका अलग रहते थे, पर रहते तो थे ही। कुछ पटरी से हिला भी, जैसे जिस मकान में रहता था उस मकान में कई किशोर लड़कियाँ रहती थीं। वे लड़कियाँ किसी से प्रेम करती थीं तो लड़कों ने उनसे प्रेम के सिलसिले में मुझ से संपर्क कर लिया।

प्रेम पत्र वगैरहा भी लिखवाए क्या?

पत्र तो नहीं लिखवाए, लेकिन एक घटना यह घटी कि एक ने कहा कि यार फोटो लाकर दे दे उस लड़की का। मैंने लगभग चुराकर वो फोटो उस लड़के को दिया। जब वो घटना खुली तो उस लड़की के पिता ने जो कि हमारा मकान मालिक था, मुझे बुलाया। वह जरा भी सीधा साधा आदमी नहीं था। नशेड़ी भी था, बच्चों को बहुत पीटता था। उसने मुझे बुलाया, अपनी लड़की को भी बुलाया। लड़की कुछ बोली तो उसे पीटा दौड़कर। दो चाँटे मुझे लगाए, जबरदस्त। वैसे तो आप किसी की डाँट से रोने लग जाते हैं लेकिन जब आप प्रतिरोध कर रहे होते हैं तो चाँटे से भी नहीं रोते। मैं भी नहीं रोया, मैंने चाँटे खा लिए। उसमें सबसे सुन्दर बात यह रही कि बाद में वह लड़की चूल्हे पर रोटी सेंक रही थी तब उसने मुझे बुलाया और माफी माँगी कि मेरी वजह से तुम्हारी पिटाई हुई। फिर वह मकान हमने खाली कर दिया। इस तरह की जो चीजें होती हैं। जीवन को समझने के दौरान ऐसी नई नई बातों को लेकर मन में उत्सुकता भी रहती है। उस वक्त जो अराजकता हुई वह यही हुई, अगर इसे अराजकता कहें तो।

सवाल यही है कि अराजक नहीं हुए, यह आत्म नियंत्रण कैसे विकसित हुआ?

ऐसा शायद इसलिए कि मुझे शुरू से ही पढ़ने का शौक लग गया था।

पढ़ने का ये शौक कैसे लगा?

जब मैं सातवीं-आठवीं में पढ़ता था तब हिन्दी की किताब ही मुझे सबसे अच्छी लगती थी। हिन्दी के शिक्षक जो दोहे, पद पढ़ाते थे वे बहुत अच्छे लगते थे, बड़ा अच्छा अनुभव होता था। मुझे कबीर, सूरदास, मीरां, रहीम, रसखान के दोहे, पद, सवैये अच्छे लगते थे। वो याद भी रह जाते थे। नरोत्तमदास का सुदामा चरित हाथों हाथ याद हो गया था। कविता की यही सबसे बड़ी खूबी भी है कि वह चित्त के इतने नजदीक होती है और बुनाई में इतनी आकर्षक की याद रह जाती है।

शिक्षक के पढ़ाने के तरीके का भी असर हुआ होगा?

हाँ शिक्षक भी ठीक से पढ़ाते थे, उसका भी असर होता था। दूसरा मुझे कहीं ना कहीं यह भी लगता है कि साहित्य के प्रति रुझान है उसका कोई एक संस्कार था और वह बचपन से ही था। शुरुआती बचपन की जो स्मृतियाँ थीं दंगलों की

जारी...

उनका, असर रहा हो सकता है। मेरे मामा लोग 'कन्हैया' गाते थे। 'कन्हैया' हमारे इलाके के लोकगायन की ऐसी शैली है जिसमें पूरा गाँव ही एक साथ गाता है। वे अभ्यास करते थे रातों में, चाँद के नीचे और घेरे की थापों पर, तो वह सब बचपन में मैंने सुने हैं। मैं खुद भी उनके साथ गाता था। इस तरह बचपन में उन चीजों के प्रति एक सुरुचि विकसित हो गई थी। महिलाएँ रसिया गाती थीं। गाँव में हरेक अवसर के लिए गीत होते थे। मेलों के अलग तरह के गीत होते थे, उनमें अलग तरह का उत्साह होता था, अलग तरह के प्रेम के गीत होते थे, रसिया अलग तरह के होते थे। बचपन में मौखिक परंपरा के गीत सुनने का बहुत अवसर मिला। मुझे लगता है कि शायद इससे वह संस्कार बना होगा कि जैसे ही मैं शिक्षा में आया और सातवीं-आठवीं में जब सूर और मीरा के पद, रसखान के पद पढ़े तो एकाएक उनसे जुड़ाव हो गया। वे भी मुझे याद रह जाते थे, उनको भी मैं गुनगनाता रहता था। जब सातवीं में पढ़ता था तो हमारे एक कहानी चलती थी, इंग्लिश में थी, "एक राजा था। उसके यहाँ हरिदास नाम का एक कवि था। वह बहुत गरीब हालत में रहता था, प्याज से रोटी खाता था लेकिन वह पोयट्री करता था।" राजा के जीवन ने इतना प्रभावित नहीं किया जितना उस कवि के जीवन ने किया। मुझे लगता था कि ये जो छपे हुए शब्द हैं क्या हम भी कभी इस तरह का लिख सकते हैं! ये चीज एक क्षण के लिए आई जब मैं सातवीं में पढ़ता था और वह गायब भी हो गई। सातवीं-आठवीं में जब मैं दौसा में पढ़ता था तब मेरी क्लास में जो और बच्चे पढ़ते थे उनके पास चित्रकथाएँ देखीं। तब चित्रकथाएँ पढ़ने का शौक हो गया। एक चित्रकथा को पढ़ना पन्द्रह मिनट में पूरी हो जाती है। उनमें बुद्ध की एक कहानी थी, शकुंतला की कहानी पढ़ी, कण्व ऋषि के आश्रम की, उन्होंने बहुत आकर्षित किया, उनमें बहुत मन लगता था। चित्र देखने को मिलते थे और जो कहानी होती थी वह कमाल होती थी। उनको देखना और पढ़ना बहुत अच्छा लगता था। दौसा में पूनम टॉकीज के आगे एक पान की दुकान वाला था। वह पचास पैसे में चित्रकथाएँ किराए पर देता था, दिन भर के लिए। वहाँ से किराए पर ला-लाकर वह पढ़ने लगे। तो इस तरह एक तरह का शौक वहाँ से शुरू हो गया। जब मैं मेरे काका के साथ रहता था तो उनको जब तनख्वाह मिलती थी, उस दिन वे मेरे लिए दो चीज करते थे, एक तो मिठाई लेकर आते थे और दूसरे वो मुझे दुकान पर ले जाते और कहते कि क्या खरीदेगा। मैं 'नंदन' और 'सुमन सौरभ' पत्रिकाएँ खरीदता था, उनको पढ़ता था। इस तरह पढ़ने के प्रति एक लगाव की शुरुआत हो गई थी। पढ़ने से हम एक अनोखी दुनिया में चले जाते हैं जो हमारे आस-पास कभी-कभी है और कभी-कभी नहीं भी है। 'सुमन सौरभ' में जब पूरे पन्ने पर स्टैफीग्राफ का फोटो आया उसे मैंने अपने कमरे में लगा लिया। तब 'सुमन सौरभ' के बीच के पन्नों पर किसी खिलाड़ी या प्रसिद्ध व्यक्ति का एक फोटो आया करता था। बाद में पता चला कि हम जिस दुकान से किराने का सामान लाते थे वहाँ पर रद्दी की किताबों का ढेर लगा रहता है, मैं ऐसे ही उठाकर देखने लग जाता था कि क्या किताबें हैं। उनमें मुक्ता, सरिता आदि जो दिल्ली प्रेस की किताबें हैं वहीं होती थीं। उलट-पलट कर देखा, अच्छी लगी तो दुकानदार से पूछा कि कैसे देते हो। उसने कहा दो रुपये किलो ले जाओ। मैं दो रुपये किलो के हिसाब से खरीद लाता था। एक किलो सरिता खरीद लाया, दो किलो मुक्ता खरीद लाया। इस तरह खरीद लाता था और बाद में पढ़ता रहता था पड़ा-पड़ा। सुमन सौरभ में जो कविताएँ छपती थीं मुझे लगता था ऐसी मैं भी लिख सकता हूँ, तो मैं कोशिश करता रहता था। अब मैं उस तरह की कविताएँ लिखने लगा। एक बार मैंने सुमन सौरभ को कविता भेजी भी, तो भेजते ही उनकी तरफ से स्वीकृति आ गई। उन्होंने एक फोर्मेट भेज दिया और कहा कि इसमें यह लिखो कि यह कविता मेरी स्वलिखित है, मौलिक है, कहीं भी अप्रकाशित है, अप्रसारित है। उन्होंने मुझे पच्चीस रुपये का मनीऑर्डर भी भेजा। मैंने पैटर्न देख लिया कि किस पत्रिका में कैसी कविताएँ छपेंगी। राष्ट्रदूत में तो मैं नियमित ही छपने लग गया। लिखने की शुरुआत इस तरह से हुई। भाया को ये सब पसन्द नहीं था। एक बार मई के महीने में भाया ने मुझे किसी काम से साइकिल लेकर बुआ के गाँव जाने को कहा। मैं पढ़ रहा था सो मना कर दिया। इस पर भाया नाराज हो गए। डाँटा मुझे। डाँट से परेशान होकर मैं मई की चिलचिलाती दोपहरी में पैदल ही बुआ के गाँव की ओर चल दिया। भाया को पता चला तो पीछा करते आए। सनसनाती लू चल रही थी। जब मैं उजाड़ में अकेला जाता दिखा तो गाली देते हुए पीछे से आवाज लगाई- 'ओ राष्ट्रदूत तेरी .... मरैगो क झकर में। थारी ....।' और फिर वापस बुला लिया मुझे। भाया चाहते थे मैं केवल कोर्स की किताब ही पढ़ूँ।'

हम गाने सुनते थे। रेडियो हमारे लिए बड़ी उपलब्धि थी, जैसे आज कोई किशोर बच्चा यह माँग करे कि मुझे एप्पल का ही लैपटॉप चाहिए और एप्पल का ही फोन चाहिए, इस तरह हमारी माँग हुआ करती थी कि रेडियो तो फिलिप्स का ही चाहिए। जब मैं ग्यारहवीं में सोलह-सत्रह साल का हो गया तब गंगापुर मंडी में माल बेचने (फसल) गया था। तब मैं वहाँ से फिलिप्स का रेडियो खरीद लाया। रेडियो पर कॉमेंट्री सुनता, गाने सुनता। तभी मेरे दिल में यह आकांक्षा जगी कि यार मैं भी ऐसे गाने लिख सकता हूँ। फिल्में देखने का एक्सपोजर मुझे था ही, चोरी-छिपे फिल्में देखता था। गाँव में भी एक ऐसा दोस्त मिल गया जो गंगापुर जाकर फिल्म देखने के लिए राजी हो गया। हम बयालीस किलोमीटर दूर गंगापुर चले जाते थे फिल्में देखने और वापस भी आते थे। बारह से तीन का शो देखते। ऐसा हमने दो-चार बार किया। मैंने एक डायरी बनाई थी। उसमें मैं हीरो-हीरोइन की लाइनें लिख देता था। हीरोइन इधर से यह गाती हुई गुजरेगी, हीरो उधर से ये गाता हुआ आएगा। इस तरह से डायरी भर दी मैंने। तो अभ्यास बहुत किया लिखने का। बाद में कॉलेज में आकर वह बदला, अलग तरह से लिखना शुरू किया।

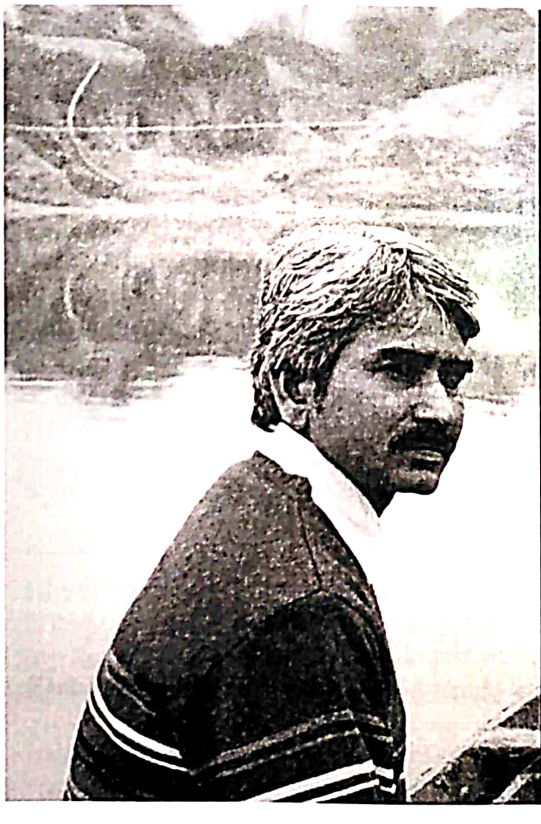
नत्थू सिंह से प्रभात नाम कब पड़ा? इसके पीछे कहानी क्या है?

नौवीं में घर वालों ने साइंस विषय दिलवा दिया जबरदस्ती। मेरे काका का लड़का था गोपाल उसको तो साइंस मैथ्स दिलवा दी कि इसकी मैथ्स अच्छी है और मुझे ना जाने क्या सोचकर बायलॉजी दिलवा दी। मेरी कोई रुचि नहीं थी। दसवीं जैसे तैसे पास की। ग्यारहवीं में आकर वो तो पास हो गया, मैं तो फेल ही हो गया था। फिजिक्स की क्लास में मुझे कुछ समझ में नहीं आता था, फिजिक्स के नियम वगैहरा या कुछ भी। तब मैं बैठा-बैठा रजिस्टर में अपना नाम लिखा करता था। नत्थू सिंह मीणा, नत्थू सिंह भारतीय, नत्थू सिंह भावुक आदि-आदि। नत्थू सिंह आजाद तो मैंने बहुत दिनों तक लिखा। ग्यारहवीं में मैं एक बत्रा साहब के मकान में रहता था, वे स्वयं साइंस के अध्यापक थे। दूसरे एक कमरे में मेरा एक दोस्त रहता था। उसी मकान में एक और पोर्शन था जिसमें दो-तीन लड़कियाँ रहती थीं, वे वहाँ बीएड करने आई थीं। उनसे बाद में बहुत अच्छा रिश्ता हो गया था। उनमें एक लड़की थीं बीकानेर की। वे मेरे लिए अपनी माँ से एक स्वेटर बुनवाकर लाईं, मैं वो स्वेटर पहनता था। उन्हें मेरा नाम पसंद नहीं था तो उन्होंने मुझे प्रभात कहना शुरू कर दिया। उन्होंने प्रभात कहा तो मुझे भी यह ठीक लगा। मैं लिखता तो था ही तो अपने लेखन में यह नाम इस्तेमाल करने लगा। वही नाम अब तक चल रहा है।

बारहवीं में विश्वंभर मिला। और दोस्तों के बारे में थोड़ा बताएँ कॉलेज के दिनों के बारे में बताएँ।

बारहवीं क्लास मैंने महावीर स्कूल से की वहाँ एक तो विश्वंभर, जो बाद में दर्शनशास्त्र का बहुत अच्छा विद्यार्थी बना। दूसरा आनंद गोदिका, वह जीनियस था। हमने जिन किताबों के नाम भी नहीं सुने थे वे सब वो बचपन में ही पढ़ चुका था। गोदिका उस समय ही ओशो को पढ़ चुका था गयारहवीं-बारहवीं में ही। कॉलेज में मनोज मिला। मनोज से आनंद ने ही मिलावाया। राजस्थान कॉलेज में जब एडमिशन हुआ और लिस्ट देखी तो आनंद को लग रहा था उसका नाम सबसे ऊपर होगा लेकिन उससे भी ऊपर नाम था मनोज का। आनंद का यह है कि जो भी जीनियस है, जहीन है, जेन्युइन है, उनसे मिलने में उसकी रुचि होती थी। मैं पढ़ने में तो इतना कुछ नहीं था लेकिन मैं कविता लिखता था इसलिए आनंद मुझसे मिलता था। बाद में हिमांशु से मुलाकात हो गई। कई सारे दोस्तों से मुलाकात हुई। उसका बड़ा लाभ मिला।

जारी...



"प्रभात को पढ़ना बोझ से हल्के हो जाना है। कवियों को भी ये कवि होने के बोझ से हल्का कर देती है। ये मनुष्य को पुकारती हुई कविताएं हैं। मनुष्य के सुख-दुख में शामिल होना ही शायद कविता होती है। प्रभात साधारणता के विलक्षण कवि हैं। ध्यान से देखने पर ध्यान आता है कि हिन्दी की समकालीन कविता जिस मध्यवर्ग सी चारदीवारी से घिरी हुई है। प्रभात की कविता उससे बाहर है। यह रास्तों, गलियों निर्जन पथ पर उगी हुई जंगली घास है। ज़माने से हार कर पथ पर बैठे एक बेबस मनुष्य से सरकार का लेना देना नहीं हो सकता, लेकिन उस अभागे मनुष्य से कवि का लेना देना होता है। यहां शिल्प का कोई ताम झाम नहीं। प्रभात का कहन ही उसका शिल्प है। ये कविताएं नहीं, मनुष्य की डबडबाई हुई आँखें हैं। डबडबाई हुई आँखों से ही ऐसे जीवन से भरपूर सजल दृश्य दिखाई दे सकते हैं। पुरस्कार/महत्व/मान्यता की आस में बैठे जिन कवियों की आँखें पत्थर की हो गई हैं उनमें कविता का पानी नहीं उतर सकता। ये इतनी गीली कविताएं हैं कि जिन काग़ज़ों पर भी इन्हें छापा जाएगा वे गल जाएंगे।"

- कृष्ण कल्पित

हम मिलते, साहित्य पर बात करते, कविताएँ पढ़ते, सुनाते। कॉलेज में हम हस्तलिखित पत्रिका 'शरत' निकालते थे। उसमें हम साथियों की रचनाएँ छापते थे, वो काम शुरू कर दिया था। यूनिवर्सिटी में आ गए वहाँ हमें और दोस्त मिले जैसे, कप्तान और सियाराम मिले। हिन्दी एमए में देवयानी का एडमिशन हो गया था। इस तरह देवयानी मिली जिनकी कवि के तौर पर पहचान है। उनका एक कविता संग्रह भी आ चुका है। तुमसे मुलाकात हुई, शिवकुमार से मुलाकात हुई। एक अच्छा समूह बन गया। हम हर शनिवार मिलते थे, गोष्ठियाँ करते थे। लगभग सभी लिखते थे। आज सभी दोस्त अपने-अपने क्षेत्र के जाने-माने नाम हैं। विश्वंभर का शिक्षा में बड़ा नाम है, उन्होंने कई साल तक 'शिक्षा विमर्श' नाम की, शिक्षा की जानी-मानी पत्रिका का संपादन किया। तुम कविताएँ लिख रहे हो और शिक्षा में बड़ा नाम है। हिमांशु की एक आलोचक के तौर पर पहचान है। मनोज एक बड़े प्रशासनिक अधिकारी हैं। उसके प्रशासनिक अधिकारी होने का बड़ा नुकसान हिन्दी साहित्य को हुआ है। वह अपने उसी आलोचना और कवि कर्म में बना रहता तो आज एक समर्थ और जरूरी कवि आलोचक होता।

दोस्तों के साथ के चलते ही साहित्य की दुनिया मे व्यवस्थित शुरूआत एमए के दिनों में हो पायी। उससे पहले तो मैं लेखन की उछल-कूद ही कर रहा था। ये दोस्त न मिले होते तो क्या पता मंच का चुटकुलेबाज हो जाता। अभिव्यक्त कर पाने का जो सुख महसूस होता है वो एमए के बाद लिखी रचनाओं में ही महसूस हुआ। बाद में हमारा पढ़ना भी बढ़ गया। ज्यादातर दोस्त शहरी पृष्ठभूमि से आते थे, आनंद, मनोज और हिमांशु भयानक पढ़ाकू थे। इनकी बदौलत केवल एक विषय तक ही सीमित नहीं रहे हम। हमारी गोष्ठियों से हम सभी लोगों के लिए एक जमीन तैयार हुई लिखने और पढ़ने के लिए। बच्चन को कॉलेज के दिनों में ही पूरा पढ़ लिया था मँगवा कर। मैं और मनोज आलोचना ज्यादा पढ़ते थे। रामविलासा शर्मा की आलोचना पढ़ कर ही निराला को समझा। मुक्तिबोध की रचनावली मँगवा ली थी, कम समझ में आते थे उस समय, फिर भी पढ़ डाला उनको। बाद में धीरे-धीरे समझ में आए आगे चलकर। उस समय का बड़ा योगदान है।

छात्र राजनीति का उस समय कैसी थी और आपका कैसा अनुभव रहा? उस समय नुक्कड़ नाटक किए आपने?

हम यह सोचते थे कि हमारे दोस्त जो इतना सोचते हैं, समझते हैं हममें से कोई चुनाव जीत नहीं सकता। जिसके पास पैसा होगा या जिनके ऊपर किसी राजनीतिक व्यक्ति का वरदहस्त होगा, वही खड़ा होगा और वही जीतेगा भी। पहले अध्यक्ष प्रणवेंद्र शर्मा बने, उसके दो-तीन साल बाद उनका छोटा भाई बना, सोमेन्द्र शर्मा। खाचरियावास बने उनकी भी पृष्ठभमि थी, आज वे मिनिस्टर हैं, प्रताप सिंह खाचरियावास। अभी जो सांसद है, हनुमान बेनीवाल यह तो महावीर स्कूल में सहपाठी रहे हैं। ये एमएलए के लड़के थे। हमने इस बात को एक तरह से रेखांकित करने के लिए कि हमारे जैसे लड़के क्यों नहीं चुनाव में खड़े हो सकते। हमने एक नुक्कड़ नाटक किया, 'चुनाव नहीं तमाशा है, थैलीशाहों की आशा है', रैली भी निकाली। उसका कोई असर नहीं था लेकिन लोग देखते तो थे ही और बाद में हमसे आकर मिलते भी थे। एक तरह से ये बात बनी कि एक धारा यह भी है, जो कि क्षीण है लेकिन है। और आज भी जब मैं पचास साल का हो गया हूँ तब भी मैं यहीं देखता हूँ देश में प्रतिरोध की एक धारा है। उसका बहुत असर नहीं लेकिन उसके होने से हमारे जीवन में थोड़ी ही सही एक रोशनी है, एक उजास है वरना तो इतनी ज्यादा निराशाएँ हैं। भयावह माहौल है।

बच्चों के साथ आपका कैसा रिश्ता है?

यह तो बच्चे ही ज्यादा बता सकते हैं।

नहीं-नहीं उनका होना, उनका साथ होना यह सब कैसा है?

जब मेरी शादी हुई तो मैं बेराजगार था। मैंने चाहा भी नहीं था कि कोई नौकरी करूँ, मैं तो चाहता ही यही था कि खेती करूँ। गाँव में रहूँ। तो गाँव चला भी गया था, रह कर भी आया वहाँ। मेरा नौकरी का कोई इरादा ही नहीं था। मेरे सभी दोस्त रोजगार की तरफ जा रहे थे, कुछ दोस्त एनजीओज में चले गए, मैं वो भी नहीं करना चाहता था, मैं तो गाँव जाकर खेती करना चाहता था। लेकिन फिर गाँव से भी एक तरह से खदेड़ा गया, वापस शहर आया और एनजीओ में काम करना पड़ा।

जब हमारे घर में इस संसार की एक नई मेहमान आई तो इस बात की खुशी हमें इतनी हुई कि पूछो मत। आगे उसका नाम हमने खुशी रखा। हालाँकि खुशी नाम मनोज ने सुझाया था। खुशी के जन्म के समय देवयानी ने जो मदद की। सुनीता को डॉक्टर को दिखाना। उसकी देखभाल करना। उसे मैं और मेरा परिवार कभी भूल नहीं सकता। उस समय वह पत्रकार थी। कोई बहुत पैसा नहीं होता था उसके पास। लेकिन इसके बावजूद उसने हमारी बहुत आर्थिक और भावनात्मक मदद की। मेरा अधिकांश जीवन उधारी में बीता है और मैंने सबका ऋण चुकाया भी है लेकिन देवयानी का ऋण नहीं चुकाया क्योंकि वह चुकाया नहीं जा सकता था। वह चुकाया जाए ऐसा ऋण था भी नहीं।

तुम बच्चों के बारे में पूछ रहे थे तो बच्चे मुझे बहुत चाहते हैं, मैं बच्चों को बहुत चाहता हूँ लेकिन अफसोस इस बात है कि एक पिता के नाते जितनी जिम्मेदारियाँ मुझे उनकी उठानी चाहिए थी उसमें शायद कमी रही और कमी की वजह यह रही कि मैं कर्ज में हमेशा रहा। अभी तक भी मैं कर्ज में चल रहा था, अभी कुछ कम हुआ है जब कुछ काम मिले। कर्ज की वजह से तनावग्रस्मत बहुत रहा। यह हमेशा मेरे लिए संघर्ष का विषय बना रहा हालाँकि जिनके साथ काम किया वे मुझसे खुश बहुत रहे। मैंने पूरे मनोयोग से काम किया, सुष्मिता जी के साथ काम किया वे बहुत खुश रहीं, दूसरी जगह काम किया, लेकिन एक संघर्ष मन में चलता रहता था कि यह सब करते हुए मैं साहित्य से दूर हूँ और ये दूरी मुझे रास नहीं आती थी। एक बेचैनी का शिकार रहता था। दूसरी ओर मुझे खुशी भी है कि मैंने बच्चों पर कभी किसी तरह का दबाव नहीं बनाया, जैसा कि आजकल चलन है बच्चों को पढ़ाई में ही घुसाए रखो। मेरे बच्चों का जो भी रिजल्ट आता, मैं खुश रहता। मैं शिक्षा में काम करता था, ट्रेनिंग देता था शिक्षकों को और मैं यह जानता था कि जितने भी शिक्षकों को मैं ट्रेनिंग दे रहा हूँ वे सभी सरकारी स्कूलों के शिक्षक हैं और सभी अपने बच्चों को प्राइवेट स्कूलों में पढ़ाते हैं यानी कहीं ना कहीं उनको भरोसा नहीं है तो सरकारी स्कूलों का सिस्टम कैसे सुधरेगा। मैं ट्रेनिंग में यह बात करता था कि सरकारी स्कूलों को ही बेहतर बनाना चाहिए वही अच्छे स्कूल हैं, उनमें ही हमारे बच्चों को पढ़ाना चाहिए। जब मैं यह बात ट्रेनिंग में कहता था तो मुझे लगता था कि मैं अपने बच्चों को प्राइवेट स्कूल में पढ़ाऊँगा तो यह अनैतिक होगा। मेरे बच्चे सरकारी स्कूलों में ही पढ़े हैं। एक-दो साल के लिए बीच में नील एक एनजीओ के स्कूल में चला गया था।



एक साधारण सा सवाल मन में आता है कि प्रभात में इतना मृत्युबोध क्यों है, बार-बार कविताओं में मृत्यु क्यों आती है? इसका एक खिलंदड़ा सा उत्तर हो सकता है कि जिन परिरिस्थितियों में गांव में किसान, स्त्रियां, बेरोजगार रह रहे हैं उनमें भला और कौनसा बोध आयेगा परन्तु प्रभात इतने सरल कवि नहीं हैं, अपनी तमाम सहजताओं के बावजूद वे किसी भी विषय का सरलीकरण नहीं करते। वह चाहे कैसा भी विषय हो लाउडनेस नहीं आने देते। हर बड़ी कविता मृत्यु से टकराती है, ट्रीटमेंट का अंतर हो सकता है परन्तु इस कठोर सच्चाई का सामना तो करना ही पड़ता है, खासतौर से तब, जब आप विज्ञान और पूंजी के बनाए 'सुद्धोधन महल' में सिद्धार्थ की तरह न रहकर 'बुद्ध' की तरह रहना चाहते हों तब मृत्यु से टकराए बगैर आपका काम नहीं चल सकता। प्रभात की कविताओं में मृत्यु के अनेक शेड हैं, सुख-दुख से परे किसी और भूमि पर टिके हुए। मृत्यु के दिन क्या होगा, कुछ खास न होगा और दिनों सा गुजर जाएगा और यह रात गर्म सी होगी। दिन का चूजा कुनमुनाएगा।

मृत्यु भी कैसी? केवल इंसानों की नहीं, परिंदे, कीड़ें, कुर्ते, धोती, अंगोछे, पेड़ जाने किस-किस की और सबके शौक में कवि शामिल है। शामिल होना भी चाहिए वरना कवि का क्या हुआ फिर? क्या कविता शोक के भारी वजन को उठाने के लिए अड़ी हुई कंधे की तरह है। जहाँ कोई दुखी दिखा वहाँ पहुँच जाती है उसके कंधे पर पर हाथ रखने। हाथ रखने के अलावे वह और कुछ कर ही नहीं सकती, परन्तु क्या यह हाथ रखना मामूली काम है।

– प्रमोद कुमार तिवारी (अकार)

कॉलेज की पढ़ाई भी सरकारी कॉलेज से ही कर रहे हैं। मेरी खुद की भी अधिकांश पढ़ाई सरकारी स्कूल कॉलेज में ही हुई है।

हमारे इलाके में दहेज का जिस तरह से प्रचलन है और तुमने दहेज नहीं लिया। उसका क्या असर रहा? उसे किस तरह देखते हो?

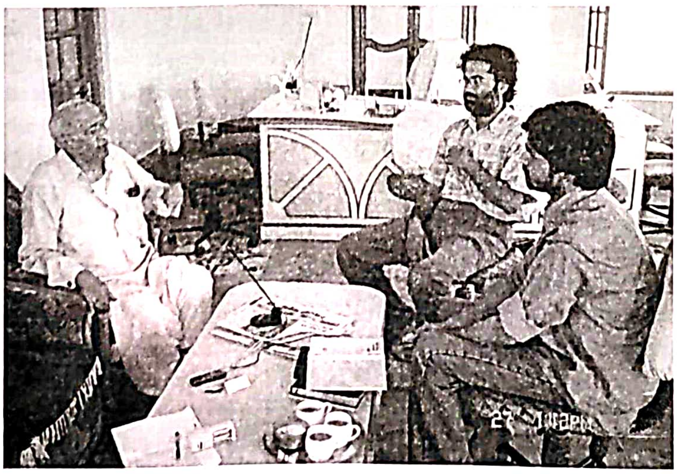
जब मैं विश्वविद्यालय की पढ़ाई पूरी करके गया था और अपने दोस्तों के बीच यह तय करके गया था कि मैं गाँव में ही रहूँगा, गाँव में ही काम करूँगा, गाँव में रहकर ही लिखूँगा और खेती करूँगा और शादी नहीं करूँगा। तो पिता सख्त नाराज हो गए थे और रोजाना का ही टेंशन हो गया था क्योंकि उनको एक ही डर था कि मेरा वंश कैसे चलेगा। जब वो बात बहुत ही तनाव देने लगी और रोजाना का लड़ाई-झगड़ा होने लगा तो मैं इस पर राजी हो गया कि ठीक है मैं शादी कर लूँगा लेकिन दहेज नहीं लूँगा। अब यह एक नई समस्या बन गई कि रिश्ते आने ही बंद हो गए। जबकि उससे पहले बहुत रिश्ते आ रहे थे। पहले अच्छे पैसों वालों के रिश्ते आ रहे थे और कहते थे कि हम इतने लाख दे देंगे। जब मैंने यह घोषणा की कि मैं दहेज नहीं लूँगा तो एकदम से रिश्ते आने बंद हो गए। लोगों को लगा यह क्या है? घरवालों को लगने लगा कि इसकी तो शादी ही नहीं होगी लेकिन मेरा यह तय था कि मैं करूँगा तो इसी तरह करूँगा। आखिर एक रिश्ता आया पड़ोस के गाँव दाँतामृती से। उन्हें यह बता दिया कि लड़का तो दहेज नहीं लेगा। ये लोग रिश्ता करने को तैयार हो गए। घर वालों ने कहा कि एक रिश्ते की बात चल रही है, देखने चले जाओ। देखने जाने को लेकर भी मेरा यह था कि मैं एक तो देखने जाऊँगा नहीं और जाऊँगा तो मना नहीं करूँगा। हम गए देखने, देखा सुनीता को मैंने मना नहीं किया।

तुम्हारे परिवार में जब मैं आता हूँ तो जो दृश्य दिखाई देता है कि एक तरफ तुम अपनी किताबों में डूबे रहते हो, दूसरी तरफ सुनीता (तुम्हारी साथी) है जो इतनी स्थापित चित्रकार है। खुशी (बेटी) स्थापित चित्रकार होने की तरफ जा रही है। नील (बेटा) है जो अपनी उम्र में अपनी अलग-अलग रुचियों को एक्सप्लोर कर रहा है, भरपूर क्रिकेट खेल रहा है। उसको लेकर क्या लगता है? इससे क्या संतुष्टि नहीं मिलती?

संतुष्टि तो है ही क्योंकि मेरे मन में कभी यह नहीं रहा कि मेरे बच्चे यह बनें या वो बनें। मेरे मन में हमेशा यह रहा कि बच्चे जो हैं वो बनें। सबसे पहले वे अपनी सामर्थ्य और रुचि को पहचानें। बचपन का जो दौर होता है वह तो एक्सप्लोर करने का दौर होता है। नील सवाई माधोपुर में एनजीओ के स्कूल में जाता था और लोकगीत सुनता था। धवले के पद सुनता था। स्कूल से आने के बाद पढ़ता-लिखता बिल्कुल नहीं था। कंप्यूटर पर देखकर, धवले के गीत सुनकर और कुर्सी को बजा-बजा कर घेरा (एक वाद्य यंत्र) बजाना सीख गया। अब यह एक ऐसी कला है कि मैं तो बचपन से ही घेरों के बीच में रहा हूँ लेकिन मुझसे घेरा नहीं बजता। चुनचुन (अनुरंजन एक फिल्म मेकर व थियेटर कलाकार है, उनका घर का नाम चुनचुन है।) के साथ रहकर खड़ताल बजाना सीख गया। दूसरा लिखता बहुत अच्छा है। भाषा का उसमें एक अलग तरह का संस्कार है। लोगों से मिलने-जुलने की बहुत छूट रही, दोस्तियाँ बनाने की बहुत छूट रही। स्कूल से आता था तो कभी अकेला नहीं आता था पाँच-छह दोस्त हमेशा साथ आते थे। उससे हमको कभी ऐतराज नहीं हुआ। उसका एक लाभ यह हुआ कि बच्चे का खुद का जो व्यक्तित्व विकसित होना चाहिए था वह विकसित हुआ। दो साल से हम वापस यहाँ लौट आए जयपुर तब इसने नाटकों में अपना रुझान दिखाया। इसको गाने-बजाने का शौक शुरू से रहा है। सब तरह के गीत सुनता है, सब तरह का संगीत सुनता है, नाटको में बचपन से ही हिस्सा लेता है। थियेटर वर्कशॉप करने के लिए हम माधोपुर से यहाँ जयपुर रहने चले आते थे और कमल जी के मकान में एक-एक महीना रहते थे। ऐसे भी दोस्त हैं जो एक-एक महीना ऐसे ही रख लेते हैं, उन्होंने ही बच्चों के फॉर्म भी भरे। दोस्तों के बच्चे भी साथ में थियेटर वर्कशॉप में हिस्सा लिया करते थे। बाद में नील, चुनचुन के ग्रुप से जुड़ गया। इसको लगा कि मैं इसमें ही एक्सप्लोर करूँ तो मैंने कभी रोका नहीं, भले ही पढ़ाई में यह लगभग फेल होते-होते बचता रहा। इससे मुझे कोई दिक्कत नहीं रही, क्योंकि कम या अधिक नंबर आना शिक्षित होने का कोई मापदंड नहीं है। बच्चे रट कर भी अच्छे अंक ले आते हैं। जो नंबर रटकर लाओ, उन्हें ना ही लाओ तो ज्यादा अच्छा है, अपनी काबिलियत से जो कर दो वह ठीक है। बच्चे हमसे कोई भी बात कहने में झिझकते नहीं हैं, फिर भी उन्हें यह लगता है कि यह बात मैं कैसे कहूँ तो उसके लिए उन्होंने खुद ही एक तरीका ढूँढ़ लिया वे एक चिट्ठी लिख कर मेज की दराज में डाल देते हैं, मैं फिर उस पर उनके साथ बात कर लेता हूँ। नील ने पिछले दिनों एक ऐसी ही तीन पेज की चिट्ठी लिखी कि मेरी अब नाटकों में रुचि नहीं रही अब मैं क्रिकेट खेलना चाहता हूँ। यह बचपन से ऐसा ही है जो नई चीज देख लेता है उसी का इसको शौक हो जाता है। ऑटो में बैठता तो कहता मैं ऑटो चलाने लग जाऊँ। रेल में बैठता है तो कहता है कि मैं रेल का ड्राइवर हो जाऊँ। जब से यह क्रिकेट देखने लगा, कहने लगा कि क्रिकेट खेलूँगा। यह अलग बात है कि घर में मुझे या खुशी को पढ़ते देखकर इसने कभी नहीं कहा कि मैं पढ़ना चाहता हूँ। बावजूद इसके जिस तरह की समझ होनी चाहिए, वह उसे है। वो इसके दोस्तों के कारण, घर के माहौल के कारण बनी है। जिन चीजों में रुचि होती है वह यह खुद ही सीख लेता है जैसे बेसिक कंप्यूटर खुद ही सीख लिया, उसमें आगे और भी बहुत सी चीजें सीख ली। क्रिकेट सीख लिया, नाटक सीख लिया।

खुशी का रुझान चित्रों की तरफ कैसे हुआ?

खुशी ने पढ़ाई थोड़ी ठीक से की। उसको पढ़ने का शौक बचपन से ही पड़ गया। चकमक हमारे घर में बचपन से ही आ रहा है। ये दोनों ही बच्चे चकमक के लिए लिखने भी लग गए थे और चकमक पढ़ते भी थे। सुशील शुक्ल के संपादन में चकमक आती थी बहुत ही अच्छी निकलती थी। बाद में सुशील प्लूटो और साइकिल पत्रिकाएँ निकालने लगे तो वो भी ये पढ़ने लगे। बारहवीं के बाद खुशी विषय तय नहीं कर पा रही थी कि क्या विषय ले। साइंस में उसकी रुचि नहीं थी। घर में उसने बचपन से ही अपनी माँ को चित्र बनाते हुए देखा था और वह खुद भी चित्र बनाती थी, उसके बनाए चित्र कई जगह छपने भी लगे थे। उसको यह नज़र आ रहा था कि मैं चित्र बेहतर बना सकती हूँ। वह इसी राह में चली गई। उसने एमएसयू से बीएफए किया है। वह बेहतरीन चित्र बना रही है। हाल ही में कवि विनोद पदरज की जो किताब आई है उसके कवर पर खुशी का चित्र है। और भी किताबों के कवर पर उसके चित्र हैं। आगे भी यह इसी तरह रहेगा कि इन्हीं को तय करना है आगे क्या करना है। मुझे मौका नहीं मिला कि मैं नौकरी नहीं करूँ तो चलेगा लेकिन इनके सामने ऐसा नहीं है। ये जो भी करना चाहें, कर सकते हैं। हाल ही में खुशी ने कम्प्यूटर में इन-डिजाइन, इलस्ट्रेशन वगैरा भी सीख लिया है। उसे कुछ काम मिलना शुरू हुए तो अपने कमाये पैसों से उसने लैपटॉप और फोन खरीद लिया है। मुझे यह देखकर अच्छा लगता है कि उसकी परिवार पर निर्भरता कम हो रही है और वह आत्मनिर्भर हो रही है।



मित्र प्रभात की ये तीन प्रेम कविताएं हैं। पहली दुविधा तो यही होती है कि उनकी किन कविताओं को प्रेम कविता कहा जाए? फिर यह कि इन्हें प्रेम कविता कहने से कहीं इनके वज़न–यानी इनकी कुल शख़्सियत और तासीर–में कमी तो नहीं आ रही? जो भी हो प्रभात के हाथों में वर्तमान के स्थानीय आवेग, ध्वनियाँ और दृश्य तत्काल ही एक प्राचीनता और सार्वभौमिकता में शामिल हो जाते हैं। दिलों का हाल इस तरह बताना प्रभात ही को आता है।

– असद जैदी

सुनीता चित्र तो अपनी माँ से सीख कर आई। वह पूर्वी राजस्थान की पारंपरिक माँडना चित्रकारी में पारंगत है। सुनीता के चित्र बनाने की व्यवस्थित शुरुआत कैसे हुई?

शादी के तुरंत बाद ही हम यहाँ जयपुर आ गए थे। सुष्मिता जी के पास एक प्रोजेक्ट था, उसमें काम के सिलसिले में उन्होंने मुझे मेरे गाँव एक व्यक्ति भेजकर बुला लिया था। यहाँ मैं काम करने बाहर निकल जाता था, घर में अकेली सुनीता क्या करे। पढ़ने में इसकी रुचि नहीं थी तब मैंने कहा तुम जो चित्र बनाती थी उसी तरह के चित्र तुम कागज पर बना सकती हो। उसमें मन लग सकता है। सबसे पहले तो मुझे याद है तुम्हीं ने उसके लिए स्केच बुक और कलर लाकर दिए थे। उसने उस पर बनाना शुरू किया था।

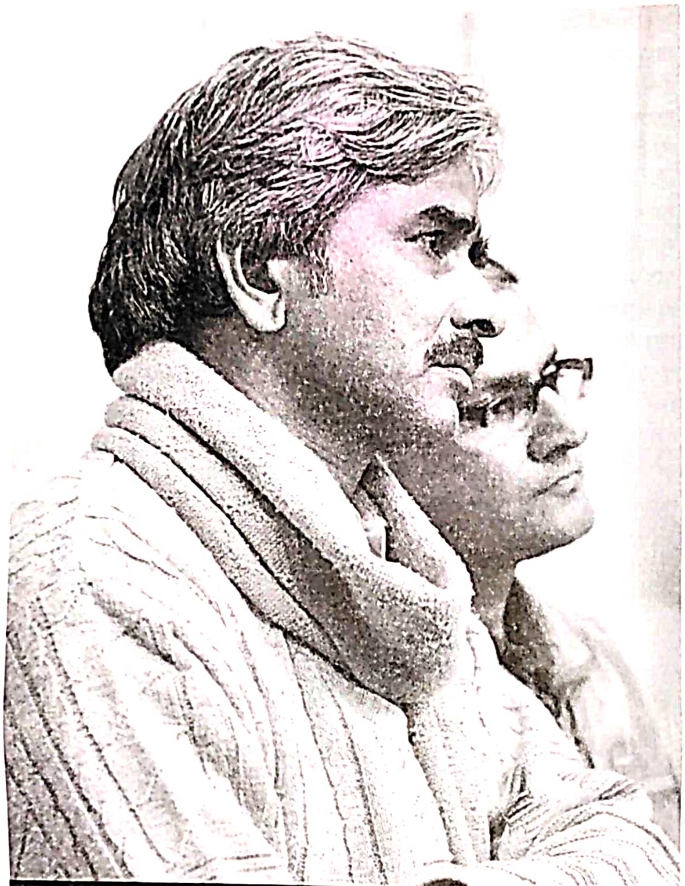
शिवकुमार ने इसके चित्र देखे तो उसके काम सराहना की। शिवकुमार ने सुनीता के बनाए सात-आठ चुने हुए चित्रों को माउंट करवाया और उन्हें हमारे किराये के घर में लगाया। इस तरह दोस्तों से भी उसे बहुत प्रोत्साहन मिला। फिर शिवकुमार ने एक प्रोजेक्ट में सुनीता से कुछ चित्र बनवाए। सुनीता के जीवन में यह वैसा ही था जैसा कभी जे. स्वामीनाथन ने भोपाल के भारत भवन में काम करने वाले गोंड आदिवासियों की जीवन में किया था और उससे आगे चलकर भूरी बाई, भज्जू श्याम, दुर्गाबाई सरीखे लोक चित्रकार उभर कर आए। सुनीता के चित्र छपना शुरू हो गए, उनसे पैसा भी मिला। धीरे-धीरे वह काम इतना विकसित हो गया कि वो पत्रिकाओं में छपने लगा, चकमक के लिए चित्र बनाने लगी। बाद में एक बड़ा ब्रेक मिलना जिसे कह सकते कहते हैं वह 'तारा बुक्स' से मिला। मदन (चित्रकार) ने तारा बुक्स के काम से सुनीता को और सुनीता के काम के बारे में तारा बुक्स को बताया। तारा बुक्स के लिए किए काम से और उन चित्रों से सजकर छपी किताब 'ग्बल यू अप' कई देशों में पहुँची। उस किताब का कोरियन, फ्रेंच, तमिल आदि भाषाओं में अनुवाद हुआ, अंग्रेजी में तो वह है ही। उसके बाद तो चाइल्ड फंड, रूम टू रीड, आदि अनेक जगहों से काम मिलने लगा। फिर उसने रियाज़ एकेडमी से एक साल का इलस्ट्रेशन का कोर्स कर लिया।

एकलव्य, इकतारा से काम मिलने लगा। अब तक अठारह किताबें आ चुकी हैं, जिनमें उसके चित्र हैं। और अनेक किताबों पर उसके कवर हैं। उसके काम की एक पहचान है। ■

हिन्दी में बच्चों के लिए साहित्य रचे जाने का आरम्भिक दौर ही अभी तक चल रहा था

हिन्दी में बाल साहित्य की परंपरा के बारे में थोड़ा बताओ और आज स्थिति किस तरह की है।

हिन्दी नई भाषा है और उसकी अपनी कोई जमीन नहीं है, जिस तरह से मैथिली, अवधी, ब्रज, मराठी, बांग्ला आदि भाषाओं की अपनी जमीन है, भौगोलिक-सांस्कृतिक इलाके है। यही वजह है कि हिन्दी की तुलना में इन पुरानी चली आ रही भाषाओं में खासतौर से मौखिक परम्परा में बच्चों का समृद्ध साहित्य मिलता है, कहानी, कविता, पहेलियाँ आदि विधाओ में। हिन्दी राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान ठीक से विकसित हुई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से हिन्दी की ठीक-ठाक शुरुआत होती है। बच्चों के लिए भी पत्रिकाएँ निकलना, आजादी से पहले ही शुरू हो गई थीं। 'वानर' निकलती थी, 'बालसखा' निकलती थी। इस तरह कुछ पत्रिकाएँ निकलती थीं जो बच्चों के साहित्य के क्षेत्र में काम कर रही थीं। लोगों ने लिखना शुरू किया बच्चों के लिए लेकिन जिस तरह वयस्कों के लिए लिखे जाने वाले साहित्य ने ऊँचाइयों को छुआ, बाल साहित्य ने वैसी ऊँचाईयाँ नहीं प्राप्त की। बांग्ला की 'अबोल तबोल' सरीखी उम्दा कविताएं हिन्दी के पास नहीं थीं। इसकी वजह यह भी रही कि जिस तरह से विदेशों में परंपरा है कि बड़ों के लिए जो लिखते हैं वे बच्चों के लिए भी लिखते हैं। टॉलस्टॉय हैं, एन्टोन चेखव है, उन्होंने बड़ों के लिए लिखा तो बच्चों के लिए भी लिखा। रूस में बहुत लिखा गया। बहुत सारे ऐसे लेखक हुए जिन्होंने पूरे जीवन बच्चों के लिए लिखा। रूसी साहित्य में हमें लोक कथाओं की कितनी सुन्दर किताबें मिलती हैं वह पुनर्लेखन है, उक्राइनी लोक कथाओं की किताब मिलती है वह भी पुनर्लेखन है। वहाँ आपको 'एलिस इन वंडरलैंड', 'लिटिल प्रिंस' जैसा उपन्यास मिल जाता है बच्चों के लिए। हिन्दी में ऐसा नहीं है। हमारे यहाँ हिन्दी में, कविता के क्षेत्र में निरंकार देव सेवक को बच्चों की आधुनिक कविता के जनक हैं। उन्होंने बच्चों के मनोविज्ञान और उनकी बालसुलभ स्वाभाविक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए कमाल की कविताएँ लिखीं। उस धारा में आगे चलकर दामोदर अग्रवाल, श्रीप्रसाद, प्रतिभानाथ आदि कई कवि हैं जिनकी बहुत अद्‍भुत कविताएँ मिलती हैं। आगे चलकर सर्वेश्वर दयाल सकसेना हैं, जो कि पराग जैसी अद्‍भुत पत्रिका के संपादक रहे और उन्होंने खुद भी बहुत अच्छी कविताएँ लिखीं। उसके बाद नवीन सागर हैं, सफदर हाशमी हैं। और अब सुशील शुक्ल बच्चों की कविताओं को कहन के ढंग, कल्पनाशीलता और भाषा की जिन ऊँचाईयों पर लेकर गए हैं, वह विरल है। और अब तो उनके साथ-साथ श्याम सुशील, शिराज, मनोज कुमार झा, मयंक टण्डन, चंदन यादव, फराह अजीज और खुद तुम (प्रमोद पाठक) कई नाम हैं, जिन्होंने बच्चों के लिए कविताओं में विविध रंग बिखेरे हैं। कविताओं की जिस तरह की धारा हमें हिन्दी भाषा में अब मिल जाती है ऐसी धारा अन्य विधाओं में नहीं मिलती। सर्वेश्वर जी ने कुछेक नाटक लिखे हैं। बाद में अशोक वाजपेई ने बच्चों के नाटको की किताब का संपादन किया, वो एक काम है। कहानियों की कोई धारा नहीं मिलती। हिन्दी में बच्चों के लिए हमें बड़ों के लिए लिखी गई कहानियों से ही काम चलाना पड़ता है। बच्चों के लिए कोई कहानी चाहिए तो प्रसाद की 'छोटा जादूगर' प्रेमचंद की 'ईदगाह', 'दो बैलों की कथा', 'बूढ़ी काकी' आदि कहानियों से पाठ्यक्रमों ने अपना काम चला चला लिया है। प्रेमचंद तो इतने महान कहानीकार हैं कि उनके यहाँ बच्चों व बड़ों का भेद ही मिट जाता है। बच्चों के लिए, बच्चों के संसार को, उनके मनोविज्ञान को, उनकी उलझनों को, उनके सुख-दुख को ध्यान में रख कर लिखने वाले कम हैं, लेकिन अभी सुशील शुक्ल जो काम कर रहे हैं वह बहुत महत्वपूर्ण है। पहले उन्होंने चकमक में रहते हुए किया, बाद में इकतारा फाउंडेशन के तहत प्लूटो और साइकिल पत्रिकाओं के द्वारा कर रहे हैं। पहली बार हिन्दुस्तान और हिन्दी में ऐसा हुआ कि उन्होंने हिन्दी के तमाम बड़े लेखकों को जोड़ा और बच्चों के लिए साहित्य लिखने के लिए प्रेरित किया। विनोद कुमार शुक्ल, प्रियंवद, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी, गुलजार, नरेश सक्सेना, स्वयं प्रकाश, असगर वजाहत यानी हिन्दी का कौन ऐसा बड़ा लेखक है जिसको उन्होंने नहीं जोड़ा और तब आज हम देख सकते हैं कि हिन्दी में कितनी कमाल की कहानियों के संग्रह हमारे पास उपलब्ध हैं। कमाल की कविताओं के संग्रह उपलब्ध हैं, उपन्यास भी हैं। आज से दस साल पहले इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। प्रियंवद का लिखा 'नाचघर' अद्‍भुत उपन्यास है। आज हम इसे हिन्दी में बच्चों के साहित्य का स्वर्णकाल कह सकते हैं और अकेले आदमी के दम पर। उन्होंने (सुशील शुक्ल) अपनी एक टीम गठित की, उन्होंने पूरा अपना एक लोक बनाया। आज हम ऐसे लेखकों को जानते हैं जिनकी बच्चों के लेखक के तौर पर ही पहचान है। सुशील शुक्ल और शशि सबलोक और उनकी टीम का काम हिन्दी बाल साहित्य के इतिहास में एक अनोखे युग की तरह है। असल में कभी-कभी किसी एक व्यक्ति के अपने होने के उजास में ऐतिहासिक काम हो जाते हैं। जैसे प्रोफेसर कृष्ण कुमार के होने से 2005 में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या जैसा काम हुआ, बच्चों के लिए ऐतिहासिक रूप से अभूतपूर्व पाठ्यपुस्तकों का निर्माण हुआ। एनसीईआरटी की हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों में हम हिन्दी बाल साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं को देख सकते हैं। यही काम अन्य विषयों में भी हुआ। हिन्दी बाल साहित्य के इतिहास लेखन के सम्बन्ध में, आने को तो दो चार व्यवस्थित किताबें भी आ गई हैं लेकिन प्रोफेसर कृष्ण कुमार के 'शिक्षा और बाल साहित्य' 'बचपन की अवधारणा' सरीखे व्याख्यान और लेख इस दिशा में ऐतिहासिक दस्तावेज हैं।



बाल साहित्य पर प्रमोद की बातचीत

तुमने अलग-अलग राज्यों में लोक-कथाएँ एकत्रित की हैं, कम से कम आठ-दस राज्यों में जा-जाकर तो यह काम किया ही होगा। दुनिया भर की लोक-कथाएँ पढ़ी भी हैं। लोक कथाओं का पुनर्लेखन भी किया है। इस क्षेत्र में हुए कामों के बारे में बताओ और लोक-कथाओं में जो जीवन आता है उसकी व्याख्या कैसे करते हो?

आजीविका के लिए किए कामों के सिलसिले में ही मैंने कुछ हिन्दी भाषी राज्यों में जा-जाकर बच्चों के लिए मौखिक परम्परा में मिलने वाले साहित्य का संकलन, सम्पादन किया। राजस्थान, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, छतीसगढ़, बिहार, झारखण्ड आदि राज्यों में, भीली, मारवाड़ी, माड़-जगरौटी, अवधी, बुन्देलखण्डी, मगही, बैगा, छत्तीसगढ़ी, मैथिली, कुड़ुख आदि भाषाओं में काम किया है। इन भाषाओं के इलाकों में गाँव-गाँव घूमकर, खेतों, चरागाहों में उनके पास पहुँचकर मौखिक परम्परा की धरोहर को सहेजा, रचनाओं का पुनर्लेखन सम्पादन करने बाद स्थानीय लोगों को वे प्रारूप दिखाकर भाषा की जाँच करने के बाद पाण्डुलिपियाँ तैयार की। इससे बच्चों के लिए कोई पचास सचित्र किताबें प्रकाशित हुई। लेकिन वे उन छोटे-छोटे कार्यक्षेत्रों में ही सिमटकर रह गईं। वहीं के लिए बनायी भी गई थीं।

इस अनुभव के चलते ही ऊपर में यह कह सका हूँ कि हमारी लोक भाषाओं में बच्चों के लिए उम्दा साहित्य उपलब्ध रहा है, हिन्दी इनकी तुलना में नई भाषा है और उसकी ऐसी सांस्कृतिक जमीन नहीं रही इसलिए उसमें बच्चों के लिए साहित्य रचे जाने का आरंभिक दौर ही अभी तक चल रहा था।

अब आता हूँ दूसरी बात पर। दुनियाभर की लोककथाएँ तो मैंने नहीं पढ़ी है। अंग्रेजी और अन्य विदेशी भाषाएँ नहीं जानता हूँ लेकिन अनुवाद में जो उपलब्ध हो सका और उसमें से जितना सा मैं पढ़ सका हूँ

जारी...

उसकी बात कर सकता हूँ। मुझे ए. के. रामानुजन की 'भारत की लोक कथाएँ' पढ़कर बहुत अच्छा लगा। यह भारतीय लोक कथाओं का संकलन तो है ही उसकी भूमिका भी बहुत महत्वपूर्ण है। लोक कथाओं को समझने की दिशा में तेजी ग्रोवर की किताब 'अकम से पुरम' बहुत महत्व की है। इनसे भी पहले मैंने विजयदान देथा की 'बातां सी फुलवारी' को पढ़ा। उसमें विजयदान देथा द्वारा पुनर्लिखित लोक कथाएं तो अद्भुत हैं ही उनके पाठ को खोलने के लिए लिखी गई कोमल कोठारी की भूमिकाएं भी अद्भुत हैं। विजयदान देथा जिन्हें हम प्यार से बिज्जी पुकारते हैं, बच्चों के लिए पुनर्रचित उनकी 'अनोखा पेड़' एक दुर्लभ किताब है। इसी तरह गुजराती में बच्चों के लिए 'मूंछों वाली माँ' गिजु भाई बधेका की संकलित-रचित लोक कथाएं भी एक महत्वपूर्ण काम है। देवेन्द्र सत्यार्थी को पढ़ना अभी भी बाकी है।

अब आता हूँ लोक कथाओं के पुनर्लेखन के सवाल पर। लोककथा का मतलब है कि उसे किसी व्यक्ति ने नहीं समूचे लोक ने कहा है। लोक के कितने ही किस्सागो हुए हैं जिन्होंने उन्हें कहा है। हरेक कहने वाले के साथ उन कथाओं का पुनर्कथन होता रहा है, पुनर्रचना होती रही है। इस दीर्घकालिक प्रक्रिया में वे खराब से बेहतर और बेहतर से वापस खराब होती रही होंगी। ऐसा अनुमान हम लगा सकते हैं। एक और अनुमान यह भी लगा सकते हैं कि हो सकता है किसी लोक कथा का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप इतिहास की धारा में कहीं बिला गया हो। लोक कथाओं के लिखित स्वरूप में आते ही उनका प्रारूप निश्चित हो जाता है। और उनकी पुनर्रचना की गुंजाइश कम हो जाती है। लेकिन ऐसा नहीं बंद हो जाता है। जिस तरह से पौराणिक कथाओं की पुनर्रचना होती रहती हैं, वक्त-जरूरत, लोक कथाओं की भी होती रहेगी।

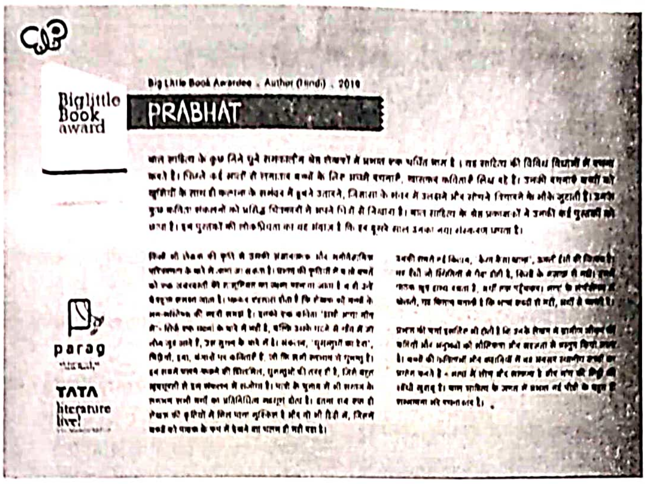
लोक कथाओं का जो पुनर्लेखन विजयदान देथा ने किया है, वह अद्वितीय है। उन्होंने जो पुनर्रचनाएँ की वह उनका मौलिक काम है। लोक से एक ही कथा के कई कई प्रारूप मिलते हैं। और उनमें तरह तरह की दिक्कतें होती हैं, लिंग, जाति, धर्म और जीवन मूल्यों को लेकर। अधिकतर लोक कथाएं सामंती मूल्यों से लैस ही मिलती है और उसी तरह से कही सुनी भी जाती हैं। बिज्जी ने लोक कथाओं के पुनर्लेखन की प्रक्रिया में कथा का ढाँचा लिया, उसमें अपने समय और आधुनिक जीवन मूल्यों से नये प्राण फूँक कर उन्हें पुनर्जीवित किया। यह काम हर किसी के वश का नहीं। अगर होता तो इस अद्भुत काम में और भी लेखकों ने कलम को आजमाया होता।

मैंने बच्चों के लिए कुछ लोक कथाओं का पुनर्लेखन किया है और एक शृंखला एकलव्य प्रकाशन से प्रकाशित भी हुई है। और एक किताब इकतारा के जुगनू प्रकाशन को हाल में दी है। इस अनुभव में मैंने पाया कि लोक कथा का ढाँचा और पात्र और कुछ हद तक घटनाक्रम ही बचे, बाकी भाषा और दृष्टि बिल्कुल बदल गई है, किस्सागोई में भी कुछ जुड़ गया है और अपना समय तो उनमें आया ही आया। जब पुनर्रचना का यह काम हो जाता है तो वे मुझे मौलिक रचनाओं के जैसा ही सम्मोहन होता है। हालाँकि मौलिक अपने आप में 'न भूतो न भविष्यति' जैसी कोई बात तो है नहीं, हर लेखक एक विरासत, एक परम्परा में ही कुछ कुछ करने की कोशिश करता है। यह जरूर है कि कुछ लेखक इस प्रक्रिया में इतना कुछ कर गुजरते हैं कि अभूतपूर्व और महान लगने लगते हैं। यही शायद लेखन की दुनिया का अलहदा आकर्षण और सुख भी है।

लोक कथाओं की व्याख्या के सवाल की जहाँ तक बात है, मैं कोई आलोचक या समीक्षक नहीं हूँ कि कोई व्यवस्थित बात कर सकूँ। हाँ, बतौर पाठक और श्रोता कुछ अनुभव जरूर साझा कर सकता हूँ, जैसे कि मैं पाता हूँ कि सियार लोक कथाओं का एक प्रमुख पात्र है। अधिकांश लोककथाओं में वह अक्सर ही शेर, बाघ, मगरमच्छ जैसे बड़े जानवरों को अपनी चतुराई से धोखा देने में सफल होता है। इन कथाओं में ऐसा लगता है कि वह अकारण इन ताकतवरों को ठग कर अपना उल्लू सीधा कर रहा है। इन कथाओं में यह मानकर चला गया है कि ये सभी बड़े जानवर आसानी से शिकार कर लेते हैं।

उनके पास पहले से ही इतनी ताकत है कि शिकार करने के लिए किसी तरह की चालाकी या धूर्तता करने की जरूरत नहीं है। और उनके द्वारा शिकार कर लिया जाना सर्वस्वीकृत है, सर्वमान्य है। लेकिन सियार जैसे जानवरों को अक्सर बड़े जानवरों के शिकार की झूठन पर ही निर्भर रहना पड़ता है। शायद वह झूठन खाते खाते थक चुका है। और उसके भीतर ताकतवर जानवरों के प्रति एक ग्रन्थी बन गई है। इसलिए वे अपनी बुद्धिमत्ता से बड़े जानवरों को छकाते रहते हैं। और अपने बुद्धिबल से बड़ों की ताकत की सीमा बताते रहते हैं कि ऐसा नहीं कि हमेशा जीत ताकतवर की ही होगी, छोटे जानवर कभी नहीं जीतेंगे।

सियार अपनी चालाकी से बड़े जानवरों को छका सकता है तो अपने से कमजोरों को क्यों नहीं? यही वजह है कि वह बहुत सी कहानियों में मुर्गी जैसे अपने से कमजोर जानवरों का चालाकी से शिकार करता है। और उसकी इस तरह की चलाकी के लिए ही शायद उसे धूर्त कहा जाता है। लोककथाओं में हम बाघ को हमेशा ताकत का इस्तेमाल करते तो पाते हैं लेकिन बुद्धि का नहीं। ताकत का इस्तेमाल शायद उसे बुद्धि के इस्तेमाल की ओर जाने नहीं देता। इसीलिए वह हमेशा सामान्य अनुभवों से अनजान और मूर्ख साबित होता है। ब्राह्मण और नाई के पात्रों वाली कहानियों में महज इंसानी चरित्र आ जाते हैं बाकी खेल वही चलता है जैसा बाघ और सियार के बीच चलता है। यहाँ भी जाति की ताकत से सम्पन्न और कमजोर के बीच का संघर्ष प्रकट होता है। ■



प्रभात को 2019 के लिए बाल साहित्य का प्रतिष्ठित 'बिग लिटिल बुक अवार्ड' मिला है। हर वर्ष यह पुरस्कार भारतीय भाषाओं के बाल साहित्यकारों व इलेस्ट्रेटर्स को दिया जाता है। अभी तक मराठी, कन्नड़ और बांग्ला के बाल साहित्यकारों को मिल चुका है। पहली बार हिन्दी भाषा के लिए प्रभात को मिला है।

आत्मकथ्य

मैं कविता क्यों लिखता हूँ ?

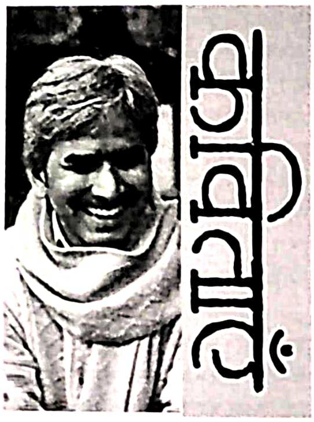


बचपन से ही हर बच्चे का जीवन में कुछ खास चीजों के प्रति विशेष अनुराग पनपने लगता है। मनुष्य अगर सामाजिक पशु है तो वह एक रचनात्मक प्राणी भी तो है। आदिवासी, पारम्परिक, सामूहिक कलाएं आज भी इसकी गवाही दे रही हैं। उनके कलाकार आज भी अज्ञात ही रहते हैं। जबकि वे होते हैं। मुझे अपने इलाके के लोकगीत, संगीत में बड़ा रस आता था। स्त्रियां जन्म के अवसर पर, मृत्यु के अवसर पर सामूहिक रूप से बैठकर लोकगीत गाया करती थी। गांवों में लोकगीतों के दंगल भरते थे। दंगलों में सौ सौ, डेढ़-डेढ़ सौ लोग एक साथ, एक स्वर में गीत गाया करते थे। आज भी गाते हैं। उन गीतों की अनुगूंजें मुझे ऐसे ही चौंकाती रहती थी। जैसे कहीं दूर गरजते मेघ मोरों को चौंकाया करते हैं।

बचपन से ही मेरी नींदें मुंह अंधेरे में चाकी पीसती हुई स्त्रियों के गीत सुनते हुए खुलती थी। कभी-कभी किसी स्त्री को हथचक्की के नीचे सर्प डस लेता था और वह मर जाती थी। कई बार सौरी से शिशु के मरने की खबर आती थी। स्त्रियों के क्रन्दन के स्वर कानों में चीखते थे। कैसा गहरा विषाद घर के लोगों, पशुओं और हरी बेलों में छा जाता था। मुझे लगता है बचपन के उस वातावरण से मिले संस्कारों की जरूर कोई भूमिका मेरे कविता लिखने में होगी। किशोर उम्र में ही मैं लिखने के पीछे पागल था। जैसे किशोर प्रेम में कोई किशोर ऊटपटांग हरकते करते रहता है। मैं लिखने में वैसी हरकतें किया करता था। खूब ही लिखा करता था और जैसे बंदरिया अपने मृत बच्चे को चिपकाए फिरा करती है। ऐसे उन्हें चिपकाए रहता था। रेडियो पर गाने सुनता था और गाने लिखता था। रद्दी वाले से रद्दी की पत्रिकाएं खरीद लेता था। उनमें जैसी कविताएं छतपी थी वैसी लिखकर पत्रिकाओं में भेजा करता था जो अदेर वापस आ जाया करती थी। कविता के पीछे पागलों सरीखे आकर्षण ने मुझे जमकर अभ्यास करवाया।

आरम्भ में मेरे आसपास आधुनिक साहित्य के माहौल के अभाव ने मेरे भीतर कविता के प्रति आकर्षण को तीव्र कर दिया। पत्र-पत्रिकाओं की कविताओं से जो बिम्ब उभरते उनके रहस्य और आस्वाद में मैं खो जाता था। विश्वविद्यालय में ऐसे दोस्त मिले जिनके रहते किसी दुश्मन की क्या जरूरत। कविताओं की डायरियां फाड़कर फेंक देने के दिन आ गये। जैसे आजकल के प्रेम में युवकों के बियर पीने, बिना धुली जीन्स पहनने और उनके बाल रखने के दिन आ जाते हैं। जैसे लाठी खाया साँप फिर से फुंफकार कर लाठी जितना ही ऊँचा उठने की कोशिश करता है, जाने क्यूं मैं दोस्तों की कसौटियों पर खरा उतरने की कोशिश करता।

आज लिखने के मेरे अभ्यास को जब दो दशक से अधिक समय बीत गया है, मैं सोचता हूँ कि अगर मैं लिखे बिना नहीं रह सकता तो नहीं लिखता। लिखे बिना रह नहीं सकता इसलिए लिखता हूँ। और अब तो लिखना मेरा एकमात्र प्रेम रह गया है। कई बार सुख सहन नहीं होता। कई बार विषाद बरस दर बरस पीछा करते हैं तब लगता है काग़ज़ पर कुछ भी अनाप शनाप लिखकर उससे मुक्ति पायी जा सकती है। यह जो ताकत है कला की, चाहे वह कोई सी कला हो, मुक्ति के सुख के साथ-साथ, अनजाने की पागलपन की ओर जाने, आत्महंता प्रवृत्ति का शमन करने में भी मदद करती है। क्या पता इसलिए लिखता होऊँ। ■



1. काजड़ टीकी

लीपे हुए आंगन के
आज ही मांडे मांडनों के बीचोंबीच
पीढ़े पर बैठी हुई वह
काजड़ टीकी कर रही है

कन्धे पर पड़ी हुई गुलाबी लूगड़ी
आधी गिरी हुई है पीढ़े की बगल में
लाल बिन्दियों का पत्ता पड़ा है
पीली छींट के लंहगे की लांवण में

घुटनों पर रखे दर्पण में
कमल जैसा मुखड़ा
जंच रहा है इतना
जैसे नया और नया होता जा रहा हो
दर्पण के सरोवर में

दिन के चार बजे की धूप
और अधिक उजला बना रही है
सफेद खड़िया के मांडनों को

पैरों के गुलाबी तलुवों के पास
हरे रंग का ढक्कन पड़ा है काजड़ की डिब्बी का
ऊंचा और ऊंचा उठा हुआ है कसा हुआ तन
मालिश किए हाथों से चोटी को गूंथते समय
उजले दांतों में फंसा है लाल रिबन

23.10.97

2. दूर-दूर तक फैले हैं ज्वार के खेत

दूर दूर तक फैले हैं ज्वार के खेत
पकी ज्वार के पेड़ों में
भुट्टों के दानेदार दूधिया फल लगे हैं
सफेद-सफेद
जहां तक पहुंचती है दृष्टि
ज्वार ही ज्वार खड़ी है जंगल में
ज्वार के खेतों में डोल रहे हैं
जंगली चूहे सांप नेवल और सियार
हिरनियां बच्चे जन रही हैं अपने यहीं
चकरी सेंध फूट की गंध है फैली हुई
हवा वह रही है ज्वार के पेड़ों के खेतों में
संगीत बज रहा है वन का निर्जन का
अरअराट फैला हुआ है सब ओर
ओ ओ ओ की भागती हुई आवाज
पुकारती हुई फैली हुई है सब ओर
सूर्य गिर गया है ज्वार के दूर-दूर तक
फैले हुए खेतों के उस तरफ
खेतों के ऊपर उड़ रहा है एक पक्षी
ज्वार के खेतों के ऊपर
थके पांखों से जाता हुआ कोई पक्षी

27.10.97

3. गोबर की हेल

क्योंकि स्त्रियां इतना ही बताती हैं
इसके आगे पीछे वह क्या था
जिसकी वजह से माँ ने ऐसा किया
क्या ऐसा था कि खून की कमी की वजह से
वह अपना ही वजन नहीं उठा पा रही थी कि उसे
गाय-भैसों का गोबर उठाना पड़ रहा था
बाड़े के गोबर-मूत में घुटनों घुटनों उसका
पीछा करते हुए मैं
बहुत रो रहा था और घर के सभी पुरुष बैठे
हुक्का पी रहे थे
और मैं भैंस के पेशाब के छींटों में भीग रहा था
वह गोबर फेंकने जाती तो उसके लंहगे से
लिपटता मैं भी जाता
उसे जल्दी-जल्दी काम सकेलना होता और
मैं घिसटता जाता
या घर के किसी पुरुष ने उसे जेवड़े के
सड़ाकों से मारा
कि वह खेत में पहुँचने में बेवजह देर कर रही है
हुआ क्या था आखिर वे स्त्रियाँ नहीं बताती
वे कहती हैं-जब तू एक डेढ़ साल का था
गुस्से में तेरी माँ ने तेरे ऊपर गोबर की हेल
पटक दी थी

यह बात उन्होंने मुझे बहुत बार बता दी है
जबकि एक बार बताना काफी था
पर चूँकि इसमें वे एक क्रूर रस लेती हैं
बार बार बता कर बार बार मेरी माँ को
अपमानित करती हैं
जबकि उनकी बकवास का जवाब देने के लिए
वह तेईस साला स्त्री अब इस दुनिया में नहीं है

एक तेईस साल की जिस स्त्री के
एक एक करके तीनों बच्चे दबे पड़ें हों
श्मशान में बच्चों को दफनाए जाने वाले गड्ढों में
वह अपने एक जीवित पर
कैसे औंधा सकती है गोबर की हेल
मगर वह ऐसा करती है
तो उसकी मानसिक यातना का
वह कौनसा चरम रहा होगा
और उस चरम पर उसके प्राण में
कितना विवेक शेष रहा होगा
ऐसी डगमग मानसिक दशा में भी एक वही
तो रही होगी
जो न जाने कहां से लौटा कर ले आयी होगी
अपनी बिलखती ममता को
और मुझ गोबर में लिथड़े को उठा कर छाती
से चिपका लिया होगा
फिर मेरे अमरत्व के लिए मुझे दूध दिया होगा

मेरे गालों पर अभी भी हैं मेरी माँ के चुम्बनों
के अदृश्य निशान
मैं अभी भी उस पानी को अपने शरीर पर
बहता देख सकता हूं
जिसमें माँ ने मुझे नहलाया
मां के वस्त्रों की गंध आज भी मेरे नथुनों में
भर जाती है
जिनमें लिपट कर मैं चैन से सोया
ये विवरण इतने ममत्व से भरे इतने मार्मिक
और इतने सारे हैं
कि इन्हें ही जीवन भर लिखते रहना मैं अपने
जीने का मकसद बना सकता हूँ
बुखार में आज भी माँ के आँसू की बूँद मेरे
ललाट पर आकर गिरती है

मुझे ढाई तीन साल बड़ा करने के बाद माँ
नहीं रही
वह श्मशान में अपने उन तीन बच्चों के पास
चली गई
जिन्होंने सोचा न होगा कि माँ मृत्यु का भी
पीछा करते हुए
उनके पास आ सकती है किसी दिन
माँ को तो अपने सारे ही बच्चों का ध्यान
रखना होता है
वे जीवित हों या मृत
अपनी चेतनाविहीनता में माँ को पता नहीं रहा
होगा
कि ऐसा होने पर वह मेरे पास कभी नहीं
लौट पाएगी

26.4.08

4. एक सुख था

मृत्यु से बहुत डरने वाली बुआ के बिल्कुल
सामने आकर बैठ गई थी मृत्यु
किसी विकराल काली बिल्ली की तरह
सबको बहुत साफ दिखायी
और सुनायी देती हुई
मगर तब भी, अपनी मृत्यु के कुछ क्षण पहले
तक भी
उतनी ही हंसोड़ बनी रही बुआ

अपने पूरे अतीत को ऐसे सुनाती रही जैसे वह
कोई लघु हास्य नाटिका हो
यह एक दृश्यांश ही काफी होगा-जिसमें बुआ
के देखते-देखते निष्प्राण हो गए फूफा
गांव में कोई नहीं था
पक्षी भी जैसे सबके सब किसानों के साथ ही
चले गए गांव खाली कर खेतों और जंगल में
कैसा रहा होगा पूरे गांव में सिर्फ एक जीवित
और एक मृतक का होना
कैसे किया होगा दोनों ने एक दूसरे का सामना
इससे पहले कि जीवन छोड़े दे
मरणासन्न को खाट से नीचे उतार लेने का
रिवाज है
बुआ बहुत सोचने के बावजूद ऐसा नहीं कर
सकी
अकेली थी
और फूफा, मरने के बाद भी उनसे कतई
उठने वाले नहीं थे
जाने क्या सोच बुआ ने मरने के बाद खाट
को टेढ़ा कर
फूफा को जमीन पर लुढ़का दिया

अब रोती तो कोई सुनने वाला नहीं था
बिना सुनने वालों के पहली बार रो रही थी
वह जीवन में
इस अजीब सी बात की ओर ध्यान जाते ही
रोते-रोते हंसी फूट पड़ी बुआ की



बुआ जीवन में रोने के लम्बे अनुभव और
अभ्यास के बावजूद
चाहकर भी रो न सकी
मृतक के पास वह जीवित
बैठी रही सूर्यास्त की प्रतीक्षा करती हुई

इस तरह जीवन को चुटकलों की तरह सुनाने
वाली बुआ के जीवन का चुटकला
पिच्चासी वर्ष की बखूब अवस्था में जब पूरा
हो गया
कुछ लोग हंसे, कुछ ने गीत गाये, कुछ को
आयी रुलायी

बूढ़ी बुआ हमारे जीवन में अभी भी है
उतनी ही अटपटी, उतनी ही भोली, उतनी ही
गंवई
मगर खेत की मेड़ के गिर गए रूंख सी
कहीं भी नहीं दिखाई देती हुई
यह बात भी अब तो चार बरस पुरानी हुई

चार बरस पहले
एक सुख था जीवन में

15.7.07

5. खेत और नदी

अफसोस की नहीं शोक की बात है
कि नदी कहती है खेत से
अब नहीं रही कोई इच्छा
तुम्हारे लिए मेरे मन में

कवि प्रभात जहाँ जाते हैं, समूचा राजस्
कहानी में। वरना वे क्यों लिखते कि बस
झल्लाया- भाई, तू भेड़ों का रेवड़ बस
राजस्थान में होती हैं? यात्रा हम सब क
कहकर झल्लाने की गुंजाइश बना लेता है
जाता है, इसलिए ये कविताएँ हम सब
लोककथा के स्तर पर चली आती हैं। उन
और दूसरी तरफ कोई है जो इधर-उध
रहा है।



खेत का तो सुनकर ही
मन डूबता है
उसमें उग आए आक बबूल
जब से सुना है
फिर भी पूछता है
यह तुम कह रही हो
या कहीं कोई और बात हो गई है

कहीं कुछ घट तो नहीं गया है तुम्हारे साथ
तुम ऐसी तो न थी
ऐसा कहना तो तुम्हारे स्वभाव में नहीं

जब नहीं सुना गया नदी से खेत का रुदन
आँखों में झलकते पानी पर पलकें ढाँप
रेत में समा गई

खेत में खड़ा है बुलडोजर
नदी में बन रहे हैं मकान

08.12.22

6. आत्महत्या

धड़धड़ाती रेलों के पहियों तले
बिछ जाने की वजहें समाप्त नहीं होंगी मगर
मैंने ये समझने की कोशिश की
रेलें यात्रा के लिए हैं
चार हाथ की रस्सी चारा बाँधने के लिए है
दुर्भिक्ष तो सरोवर पर भी है
वह भी प्रतीक्षा करता है धीरे धीरे सिमटने की
भूखों, निर्दोष कैदियों और स्त्रियों से
जीने की तालीम लेनी चाहिए
साँस की तरह चल रही हों
मरने की वजहें शरीर में, तो
पागलपन का आश्रय लेना चाहिए

पागलों में होती है यह बुद्धिमत्ता
खाना कपड़ा रहना न मिले
सारा जगत ही उपेक्षा करे
तब भी जीवन तो है
उसे बचाया जाना चाहिए

जीवन को बचाने की योजना तो वह योजना है
जो बड़े-बड़े कार्पोरेट घरानों और बहुमत से
बनी
बुद्धिजीवियों से भरी सरकारों के पास भी
नहीं है

24.04.19

7. नेवले

नेवले देखे
कितने ही नेवले देखे
उनकी कोई कथा नहीं थी
वे बस दिखते थे
चमक से झाँकते हुए
या मुँह ऊँचा किए हुए
वे काल नहीं थे किसी का
वे तो समकालीन थे यह कहते हुए
समय हो तो मिलना
और कितना मुश्किल था
उनसे मिलने के लिए समय निकालना

मैं एक गाँव में गया
किसी के पास मुझसे करने के लिए कोई बात
नहीं थी
जो कि अक्सर नहीं होती
धोखे और संशय की बात चलती ही रहती है
लोगों के जेहन में
क्योंकि आए दिन लोग मार भी तो देते हैं
लोगों को
तो मैं तालाब किनारे निकल गया
वहाँ मुझे कई नेवले दिखे
उनका दिखना ही उनसे बात करना था
उनका नहीं डराना ही खुद को
सुकून से भरना था

19.01.20

8. घुटनों में सिर दिए बैठा आदमी

सड़क किनारे घुटनों में
सिर दिए बैठा आदमी
सरकार का तो कुछ नहीं
लेकिन क्या मेरा भी कुछ नहीं
वह अपने घरवालों का तो कुछ नहीं
लेकिन क्या मेरा भी कुछ नहीं
वह उन पशुओं का तो कुछ नहीं
जिन्हें उसने चारा खिलाया, पानी पिलाया
लेकिन क्या मेरा भी कुछ नहीं
वह ठिठुरती रात और घने कोहरे का तो कुछ नहीं
लेकिन क्या मेरा भी कुछ नहीं
मैंने कटण-कजोड़ा इकट्ठा किया
सुलगायी आग चलायी बात
यह देख एक कुत्ता भी आ बैठा पास
देखकर पृथ्वी पर
आदिम उजास

17.01.20

9. धर्म की जड़ सदा हरी नहीं होती

खून की बारिश होती है तेज
कभी रुक-रुक कर
धर्म के कारण होती है तेज
कभी रुक-रुक कर

अयोध्या में हुई थी बहुत तेज
फिर देश भर में रुक-रुक कर
गुजरात में हुई थी बहुत तेज
फिर देश भर में रुक-रुक कर

दलितों का खून बरसता है
मुस्लिमों का खून बरसता है
गाय के नाम पे खून बरसता है
देश के नाम पे खून बरसता है
कभी कभी बहुत तेज
कभी रुक रुक कर

कुचलकर मारे गए किसान
न्याय का नाम न कहीं निशान
हत्यारों का फूलमालाओं से
जोरदार सम्मान
कभी कभी बहुत तेज
कभी रुक रुक कर

धर्म की जड़ सदा हरी नहीं होती
धर्म के कारण हुई खून की बारिश से
सत्ता की जड़ हरी होती है
कभी कभी बहुत तेज
कभी रुक रुक कर

09.12.22

10. काळी बादळी

काळी बादळी
पाणी का समद नहीं ल्याई रे
मैनें बादळी बुलाई नहीं आई रे।

गाँव होगा उजाड़
सूखी धरती सूखौ माड़
सूखी नीमड़ी की ढाड़
सूखै बंदा भीतर झाड़
जमी लीर-लीर होगी
खेत होगा फाड़-फाड़ बुरी आई रे
मैनें बादळी बुलाई नहीं आई रे।

बादळा की डाबरी
आ रै काळी बादळी
छोरा-छोरी भूखा रोवै
भ्या रै भैंस बाखड़ी

ढांढ़ा खावै पछाड़
ताती तण्ण चालै भ्आड़
ऊँबा खेत दिया ब्आड़
भैंणा दाणा हो तो झ्आड़
बीरा आगौ उपाड़
अरी आच्छ्याँ देख भ्आड़
किस्याँ भी तौ चूलौ ब्आड़
मरी आई रे
मैनें बादळी बुलाई नहीं आई रे।

सूखा तड़ाव मं
माछड़ी का हाड है
सेठाणी नं चावड़ राँध्या
खा लै बेटी माँड है

काम हाथ से छिटक दूर होगौ
बैरी रामजी छिटक दूर होगौ
चुग्गा चोंच से छिटक दूर होगौ
ऊँट रूँख से छिटक दूर होगौ
ढोला मारू से छिटक दूर होगौ
बाबुल क्यों मोसे छिटक दूर होगौ
ओ म्हारी कोयल थारी टूटगी सगाई रे
मैनें बादळी बुलाई नहीं आई रे।

म्हारी भैंणा का म्हौंडा की चिड़िया उडगी
म्हारी काकी का चूड़ा की लाख मुड़गी
म्हारी भाभी की रीती बिलौणी ढुड़गी
ऊँबा झूँके भाई-भौजाई रे
मैनें बादळी बुलाई नहीं आई रे।
काळी बादळी
पाणी का समद नहीं ल्याई रे
मैनें बादळी बुलाई नहीं आई रे।

मार्च, 1999

11. पिरेमी मिलबा आ जाज्यौ

उड़ जाय हंसा उडबाळौ बगद नहीं आवै रे
जाणैं खाँसू आयौ जाणैं खाँकू जावै रे।

जियौ जिन्दगी ईसी जियै जाणैं सारस को जोड़ा
आदी उमर लिकळगी अब तौ दिन रहगा थौड़ा।

अब तौ फोन ईमेल चालगा जाणैं काँई-काँई
पण तू खां तेरा हाल किस्या सुणबा मं को आई।

डोलूं जब आवै सुरत इस्यां खेतन की माटी मं
सरसूं करी क चणा कर्या सैंदा नं पाटी मं।

रूखी सूखी मिलै जिसी मेरा घर मं खा जाज्यौ
थारी मन मं आवै खास पिरेमी मिलबा आ जाज्यौ।

उड़ जाय हंसा उडबाळौ बगद नहीं आवै रे
जाणैं खाँसू आयौ जाणैं खाँकू जावै रे।

01 जनवरी 23

12. कोई भी चीज लम्बी नहीं चलती

कोई भी चीज इतनी लम्बी नहीं चलती
न खामोशी लम्बी चलती है
न आंसुओं की झड़ी
न अट्टहास
न हँसी
न उम्मीद न बेबसी

गरीबी को लम्बा चलाने की साजिश
रची जाती है दिन-रात
मगर समृद्ध करते रहते हैं लोग अपना जीवन
और-और तरीकों से
पूंजी के बिना भी जीते हैं लोग
गाते हुए गीत और लोरियां। ■

8.3.07

न जाता है। फिर वो कविता में जाएँ कि
एक गडरिया आया, कण्डक्टर उस पर
अंदर ही ले आया, पर भेड़ें क्या सिर्फ
ते हैं। कण्डक्टर झल्लाता है। पर भाई
। यह कण्डक्टर हमें जगह-जगह मिल
ी कविताएँ हैं। प्रभात की कहानियाँ
ें एक पत्थर और औजार गढ़े जा रहे हैं
झुककर मोबाइल का नेटवर्क जुगाड़

लोक और मौखिक परम्परा के साहित्य का संस्कार मेरे इलाके की देन है



विश्वम्भर प्रभात के स्कूल के दिनों का साथी है। शिक्षा जगत की महत्वपूर्ण पत्रिका 'शिक्षा विमर्श' का लम्बे अरसे तक संपादन किया। इन दिनों वह लखनऊ में शिक्षा के क्षेत्र में ही काम कर रहा है। एक सुबह फोन पर प्रभात से फोन पर ही बातचीत के लिए कहा तो तुरंत हाँ कर दी, क्योंकि उसका फिलहाल जयपुर आने का कोई कार्यक्रम नहीं था। दोनों लम्बे समय तक साथ रहे, नुक्कड़ नाटक किये, हस्तलिखित पत्रिका 'शरत' भी निकाली। प्रस्तुत है उसी बातचीत के अंश-

हम 32 वर्षो से एक-दूसरे को जानते हैं, मित्र हैं। कॉलेज के समय हमारे ऊपर शरतचन्द्र का प्रभाव था। अब मैं पूछूँ कि वे कौनसी किताबें या रचनाएँ जिनकी निशानदेही मानस पर दिखाई देती है?

उस समय तुम दो किताबें लाए थे 'आवारा मसीहा' और 'मानस का हंस'। वे दोनों ही पढ़ी थीं। शरतचन्द्र का जीवन बड़ा आकर्षित करता था। उनका आर्थिक रूप से कमजोर पृष्ठभूमि से आना, उनके जीवन की भटकनें, ये बातें आकर्षित करती थी। वह किताब पढ़ने के बाद हमने उनके और भी उपन्यास पढ़े। वह किताब उन्हें अधिकाधिक पढ़ने की प्रेरणा बन गई थी। तुलसीदास को जानते तो पहले से ही थे, लेकिन व्यवस्थित तरीके से उनके जीवन को अमृतलाल नागर के 'मानस का हंस' से जाना। लेकिन कॉलेज से भी पहले बारहवीं के दिनों में बच्चन का गहरा प्रभाव पड़ा था।

हाँ मुझे याद है तुमने बहुत सारी किताबें पढ़ी थीं। चार खण्डों में जो उनकी आत्मकथा है वो पढ़ी थी। उनकी कविताएँ तुम बहुत दिल से याद करते थे।

उस समय राजपाल एंड सन्स से उनकी किताबें प्रकाशित हुई थीं वे सारी मँगवा ली थीं, मधुशाला, मधुबाला, निशा निमंत्रण सतरंगिणी, दो चट्टानें, जाल समेटा, क्या भूलूँ क्या याद करूँ, जितनी मिलीं सब पढ़ीं थी। मुझे सबसे ज्यादा प्रभावित किया था निशा निमंत्रण के गीतों ने। सरल भाषा में लिखे उन गीतों की उदासी गहरा प्रभाव छोड़ती थी।

संतोष आनंद के गीत भी पसंद आते थे- 'जिन्दगी की ना टूटे लड़ी' या 'तेरी दो टकिया की नौकरी मेरा लाखों का सावन जाए' आदि। वो पत्रिकाओं में भी छपते थे। उनका यह गीत- 'मैं गीत तुम्हारा हूँ तुम गाओ मेरे यारो, बुझती हुई साँसों को सुलगाओ मेरे यारो।' किसी पत्रिका में ही पढ़ा था। सवाई मानसिंह स्टेडियम में कवि सम्मेलन था। उसमें नीरज आए। आधी रात को हज्जारों की तादाद में स्टेडियम में आए लोगों के बीच उन्होंने 'कारवाँ गुजर गया, गुबार देखते रहे' सुनाया। वह जिन्दगी की एक यादगार रात बन गई थी।

उस समय से आज की पसंद किस तरह बदली है, या कहें उसमें कोई गुणात्मक सुधार या परिष्कार हुआ है? जैसे संगीत में होता है पहले प्रचलित गायक से सुनना शुरू करते हैं धीरे-धीरे मेंहदी हसन या किसी अच्छे गायक को सुनने लगते हैं। क्या ऐसा किताबों, लेखकों के मामले में हुआ है?

आगे हम मुक्त छंद की कविता की तरफ चले गए। उसी समय विलियम बटलर ईट्स की कविताएँ भी मुझे मिल गई थीं, राजस्थान कॉलेज की लाइब्रेरी में अनुवाद में। वे कविताएँ बहुत पसंद आयीं। उनमें ऐसे दृष्य थे जो गाँव में, खेतों में देखे थे। उस समय हमारे लिए साहित्य की दुनिया खुल रही थी। हमारे लिए सब कुछ नया था, जो कुछ हाथ आ जाता सब पढ़ते जाते थे। नागार्जुन, लीलाधर जगूड़ी, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर जो कुछ सामने आता पढ़ते थे। राम विलास शर्मा की एक किताब राजस्थान कॉलेज की लाइब्रेरी से 'विराम चिह्न' मिल गई, वह पढ़ी। पहली बार ऐसे निबन्ध पढ़े। जब काका के पास नाहन (हिमाचल प्रदेश) गया तो वहाँ एक अच्छा पुस्तकालय मिल गया था। राम विलास शर्मा की किताबें खोज-खोज कर पढ़ी। आलोचना पढ़ने में रस आने लगा तो उस पुस्तकालय में आलोचना की और भी किताबें पढ़ी। उधर जयपुर में मनोज नामवर सिंह को पढ़ रहा था। वह पत्रों में जिक्र करता था। हिमांशु ने एक अन्तर्देशीय में 'चेतना पारीक' कविता लिखकर भेजी। कविता पढ़ता जाता था और सोचता जाता था, हिमांशु ने कविता लिखने के मामले में हम सबको पीछे छोड़ दिया। अंत में कवि का नाम देखा ज्ञानेन्द्रपति तो समझ में आया कि यह उसकी नहीं लेकिन उसकी प्रिय कविता है। फिर वह हम सबकी प्रिय कविता हो गई। उस पुस्तकालय की सबसे अच्छी याद है-'निराला की साहित्य साधना' के तीनों खण्ड पढ़ना। वह किताब पढ़ने के बाद ही निराला के प्रति सही मायने में राग पैदा हुआ।

आज के परिप्रेक्ष्य में देखें तो कौन लेखक हैं जो पसंद आते हैं, प्रभावित करते हैं?

राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, अरुण कमल, वीरेन डंगवाल, विष्णु खरे सबकी कविताएँ अच्छी लगती हैं। असद जैदी की 'बहनें तथा अन्य कविताएं' पढ़ी तो उसका एक अलग ही तरह का असर हुआ। उन कविताओं की भाषा, भावों की सघनता, कहन का ढंग ऐसा था कि उन दिनों उन्हें बार-बार पढ़ा। मेरे साथ ऐसा रहा कि मेरी प्रिय किताबें खोती रहीं। दोस्तों के बीच रहतीं फिर वहाँ से भी जाने कहाँ गायब हो जाती। अब उन्हें फिर पढ़ना चाहता हूँ पर नहीं है मेरे पास। आलोक धन्वा की कविताओं का भी गहरा असर था। 'ब्रूनो की बेटियाँ' कविता को बार बार पढ़ता था। 'भागी हुई लड़कियाँ' बल्कि उनकी सारी ही कविताएँ दोस्तों को पढ़कर सुनाता था। नरेश सक्सेना की कविताओं से पहला परिचय 'पहल' से हुआ। पहल के अंकों की कविताएँ इतनी अच्छी लगती थीं कि 'पहल' के नए अंक की मेह की सी बाट देखते थे। विनोद कुमार शुक्ल की कविताएं बहुत बाद में जाकर समझ में आने लगीं। जब समझ में आने लगीं तो वे भी प्रिय कवियों में शुमार हो गए। इन तमाम कवियों से विश्वविद्यालय के दिनों में जो प्रेम विकसित हुआ, अब तक बना हुआ है।

राजस्थान के कवियों से तो सीधे परिचय है, मिलना-जुलना रहा है। ऋतुराज, कृष्ण कल्पित, अजन्ता देव, विनोद पदरज, सत्यनारायण सभी को उत्सुकता से पढ़ता हूँ।

उपन्यास, कहानियाँ भी पढ़ना हुआ या ज्यादा ध्यान कविताओं पर ही रहा?

तुम्हें याद होगा कॉलेज के दिनों में हमने तुर्गनेव, टॉल्यटॉय, दोस्तोएवस्की, गोर्की, प्रेमचंद, रेणु, मोहन राकेश, उयप्रकाश, स्वयं प्रकाश, कमोबेश सबको पढ़ा था। प्रेमचंद की अनेक कहानियाँ, रेणु की 'तीसरी कसम' अखिलेश की 'चिट्ठी', निर्मल वर्मा की 'बुखार' गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कितनी ही कहानियाँ हैं जिनके पहले पाठ की याद आज भी ऐसे के ऐसे है।

राजस्थान के कथाकारों को कम पढ़ा हैं लेकिन विजयदानदेथा, सत्यनारायण, चरण सिंह पथिक को लगभग पूरा पढ़ा है।

अब हम विदेशी लेखकों की बात करते हैं। एक जमाने में रूसी साहित्य का अनुवाद बहुत सहजता से उपलब्ध होता था, जो आज नहीं होता। विदेशी लेखकों में किसकी छाप है? मेरा मतलब है कि याद करते हैं तो कौनसे उपन्यास, कहानियाँ आदि याद आते हैं?

मुझे दोस्तोवस्की का 'अपराध और दंड', 'ईडियट' और टॉलस्टॉय का, 'वार एंड पीस', 'अन्ना कैरेनिना' पढ़ने की याद है। और ऐसी याद है कि वह सब फिर से पढ़ना चाहता हूँ। खूब सारी किताबें अनुवाद में पढ़ी हैं। याद कर-करके सूची बनाने का तो कोई मतलब नहीं है। हर पाठक के पास अपनी एक लम्बी फेहरिश्त होती है।

वह समय, वहाँ का परिवेश, वो क्या चीज है जो हम वहाँ (विदेश) की रचनाओं में देख पाते हैं? हमें पसंद आता है?

इंसान का सुख-दुख सारे संसार में कमोबेश एक जैसा ही है। रचनाओं के किरदार सार्वभौम होते हैं। उन किरदारों के जो द्वंद हैं या उनका जो सौन्दर्य है, या तकलीफें हैं, सार्वभौम हैं। जैसे टॉल्सटॉय की कहानी 'इवान इलिच की मृत्यु' में एक क्लर्क की मृत्यु का इंतजार करते हुए दफ्तर के लोग हैं जो उस पद पर आना चाहते हैं। ये भारत का क्लर्क का भी हो सकता है, कहीं का भी हो सकता है। दूसरा विशेष आकर्षण वहाँ की जमीन, वहाँ के परिवेश, संस्कृति के वर्णन को पढ़ने का होता है। बड़ी उत्सुकता से हम उस सबको जानने की कोशिश किया करते हैं। कल्पना किया करते हैं। कल्पना का सुख उसमें मिलता है।

> ' प्रभात जितना बड़ा कवि है उतना बड़ा लोक व भाषा का अध्येता भी। प्रसिद्ध भाषाविद गणेश एन देवी के मार्गदर्शन में 'पीपुल्स सर्वे ऑफ इंडिया' नाम से भारतीय भाषाओं को लेकर जो सर्वे प्रकाशित हुआ है, उसमें राजस्थान राज्य की कई भाषाओं के दस्तावेजीकरण से प्रभात जुड़ा रहा है। अब तक प्रभात कई राज्यों की लोक कथाओं का दस्तावेजीकरण कर चुका है। कई लोकभाषाओं की बेहतरीन लोककथाओं की किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें बज्जिका, अवधी, छत्तीसगढ़ी, बेंगा आदि प्रमुख हैं। '

जारी...

साहित्य और फिल्म के माध्यम में ऐसा लगता है कोई कनेक्शन है?

साहित्य का आस्वाद अलग तरह का है, सिनेमा का अलग तरह का। साहित्य को पढ़ते समय हम उसके विवरणों और वर्णनों को अपने मन में गढते चलते हैं, रचते चलते हैं। एक तरह से रचना की पुनर्रचना हमारे भीतर होती चलती है। यह एक सुख है। साहित्य कल्पना का सुख देता है जबकि सिनेमा कल्पना के लिए बहुत गुंजाइश नहीं छोड़ता है। वहाँ सिनेमा विधा की ऊँचाइयों को जानने-समझने का सुख है।

विजयदानदेथा की कहानी 'फितरती चोर' जिस पर 'चरणदास चोर' नाम से श्याम बेनेगल ने फिल्म बनायी। फिल्म बेशक अच्छी है लेकिन मुझ पर कहानी ने जैसा गहरा प्रभाव डाला, फिल्म का वैसा प्रभाव नहीं पड़ा। अच्छी रचनाओं पर खराब फिल्में बनती रही है और कभी फिल्म रचना से आगे निकल गई है।

कहीं पढ़ा या सुना है कि मार्खेज ने तो अपने उपन्यास 'एकांत के सौ वर्ष' पर फिल्म बनाये जाने से इंकार ही कर दिया था।

> “ प्रभात ने जीवन के उन तत्वों से कविता बनाई है अथवा कहें कि उन जीवन तृणों को कविता में बदला है जो प्रत्यक्षतः स्वाभाविक रूप से काव्योचित नहीं लगते। जीवन के सर्वथा निष्ठुर, रोधपूर्ण एवं रुक्ष प्रसंगों-स्थितियों को उन्होंने कविता में, बेहद मार्मिक कविता में बदला है। संभवतः पिछले कई दशकों में पहली बार हिन्दी कविता वापिस अपनी मातृभूमि यानी गांवों के जीवन की ओर लौटी है। और यह लौटना उन्ही पुरातन ग्राम्य सुषमा की ओर या चंदनवर्णी धूल की ओर लौटना नहीं है। यह है एक नए, वीरान, जीवन-शून्य और दरिद्र हो रहे त्रासद गांवों की ओर ताकना। भूमंडलीकरण और पूंजीवाद के बेलगाम विकास के दौर में नष्ट हो रहे गांवों, खेतों, ढोर-डांगर और किसान-मजदूर की ओर लौटना जो हमारी कविता में प्रायः एक समाचार या संदेश की तरह उपस्थित रहे।
>
> – अरुण कमल ”



एक लेखक के तौर पर स्वाभाविक लगाव अन्य कलाओं से भी होता है। क्या ऐसा मामला है या अपनी-अपनी दिलचस्पियाँ हैं?

दूसरी कलाओं से लगाव में बड़ी भूमिका संगत की रही। तुम्हारी रुचि संगीत में थी तो तुम्हारे साथ के चलते संगीत सुनना सीखा। एक जमाने में हमने बंसी कौल, हबीब तनवीर, रतन थियम के नाटक देखे तो नाटकों में दिलचस्पी बढ़ गई। शिव कुमार की संगत से हमने चित्रों को देखना, समझना शुरू किया। मनोज की संगत ने कविताओं को समझने में बड़ा योगदान दिया। तुम लोगों की वजह से दर्शन में रुचि हुई। उस जमाने में एकाध किताब पढ़ी भी।

लोक साहित्य, मौखिक परंपरा के साहित्य का संस्कार मेरे इलाके की देन है। बचपन से देख सुन रहा हूँ। आज भी दंगलों में जा-जाकर सुनता हूँ। वे मुझे बहुत ही प्रिय हैं। वह एक अलग ही रचना लोक है।

एक बात तुम्हारी रचनाओं में देखी जा सकती हैं वह यह कि उनमें देहात है। जबकि ज्यादा वक्त हमने शहरों में बिताया है उसकी क्या वजह है?

बचपन गाँव में बीता है और वे स्मृतियाँ बहुत गहरी हैं। बाकी यह तो सही बात है कि मेरी रचनाओं में देहात ही ज्यादा है। लेकिन जो विचार है और जो मैं कहना चाहता हूँ वह गाँव शहर से परे, मेरा अपना है, उसमें कुछ आधुनिक है तो वह मैंने शहर की दुनिया से पाया है। शहर में जाने पर ही मिली किताबों, पुस्तकालयों और दोस्तों की संगत से।

कई रचनाओं में नए संदर्भ भी आए हैं। बच्चों की अनेक कहानियों में देख सकते हो, बच्चों की कविताओं में देख सकते हो। बड़ों वाली कविताओं में भी देख सकते हो, जैसे 'बच्चे की भाषा' एक कविता है, उसमें दिल्ली के एक रेस्त्राँ का वर्णन है। 'प्राथमिक शिक्षक' लम्बी कविता है, जिसकी विषयवस्तु आज की शिक्षा व्यवस्था है। ऐसी कविताएँ भी हैं जिनमें शहरी जीवन आया है और अब वह कुछ कुछ बढ़ भी रहा है।

माँ को याद करते हो उनकी धुँधली स्मृतियाँ हैं, और बहुत पहले की स्मृतियाँ हैं, लेकिन भाया (पिता) हमेशा मौजूद रहे हैं, साथ रहे हैं, उनकी छाया हमेशा साथ रही है, उनके साथ के अनुभवों कैसे देखते हो?

भाया के साथ कम रहा बाकी तुम ठीक कह रहे हो कि उनकी छाया ही ज्यादा रही। दूसरी और तीसरी कक्षा की पढ़ाई के दौरान मैं महुआ में उनके साथ रहा। भाया के साथ रहने की वे ही स्मृतियाँ सबसे सुखद हैं। भाया महुआ में पोस्टमैन थे। महुआ एक छोटा सा कस्बा था। भाया चाहते तो कस्बे के किसी ठीक ठाक किराये के घर में रह सकते थे, जहाँ समाज के बीच रहने का अनुभव मिलता। लेकिन अपनी कंजूस प्रवृत्ति के चलते वे रामबाबू की बगीची में बनी कोठरियों में से एक में रहते थे। भाया आगे भी किराये के घरों के नाम पर सड़क किनारे की खाली दूकानों को ही किराये पर लेकर रहे। लालसोट में जिस दूकान में रहते थे उसके अगल-बगल में लोहे की दूकानें थीं जिन पर दिनभर बैल्डिंग वैगरा का काम चलता रहता था। शिवाड़ में एक एकांत घर में रहे जिसमें उनका सामान चोरी हो गया। सामान के नाम पर उनके पास आटे का पीपा, एक प्लेट, चम्मच-भगोनी, एक बाल्टी और दो जोड़ी कपड़ों से अधिक कुछ भी नहीं रहा। ऐसा नहीं कि ठीकठाक सामान हो नहीं सकता था। हो सकता था लेकिन इस सब कुछ के होने में जो पैसा लगता उसे वे बचाकर रखते थे। पैसे को दाँत से पकड़ कर रखने की उनकी प्रवृत्ति को लेकर हमारे इलाके में एक दिलचस्प किस्सा प्रचलित है। हमारी बूढ़ी बुआ के लड़के रामचरण का इजाद किया हुआ वह किस्सा है। वे अपने गँवई अंदाज में इसे हमारी माड़ भाषा में दो-पाँच लोगों के बीच सुनाते हैं। मैं इसे हिन्दी में कह रहा हूँ।

वे कहते हैं कि भाई इस संसार में औरत का पति कौन?
औरत का पति आदमी
आदमी का पति कौन?
आदमी का पति पैसा
और पैसे का पति कौन?
'पैसे का पति कौन है, पता नहीं।' लोग कहते।
तब रामचरण उन्हें बताते कि 'पैसे का पति है-नत्थू का भाया'।

खैर। तो हम रामबाबू की बगीची में रहते थे। पन्द्रह रुपये महीने उसका किराया था। कोठरियों के बरामदे के बाहर भाया चूल्हे पर रोटी सब्जी बनाते थे। मैं गाँव से पहली बार बाहर आया था। संयुक्त परिवार के भरे-पूरेपन से इस एकाकी जीवन में। सब्जी शब्द पहली बार सुना था। इससे पहले शिवजी तो सुना था लेकिन सब्जी कभी नहीं। तो मैं सब्जी को शिवजी बोल देता था। इस गलती के एवज में चाँटा पड़ता था। चाँटे के बाद भाया, बगीची में बने शिवजी के मंदिर को दिखाते हुए कहते थे-'वो है शिवजी और ये है सब्जी।' भाया के पास एक पुरानी जंग खायी पेई (छोटा संदूक) भी थी। उसमें भाया ने मेरे लिए जो जोड़ी नेकर बुशर्ट लाकर रखे थे। उन कपड़ों का रंग और उन्हें पाकर खुशी का जो अहसास हुआ था, वह आज भी याद है। आगे एक साल और जब मैं पाँचवीं में पढ़ता था और तब तक भाया पोस्टमास्टर हो गए थे, फुलेरा में उनके साथ रहा। बस जीवन के ये तीन साल ही उनके साथ रहा। लेकिन उनके जटिल व्यक्तित्व की छाया हमेशा साथ रही। भाया ने मेरी खातिर दूसरी शादी नहीं की जो कि बहुत आसान थी। वे उस समय सुंदर छरहरे युवक थे। जीवन साथी के अभाव ने भी उनके व्यक्तित्व को जटिल बनाया। वे पितृसत्ता वाले सामंती समाज में पले बढ़े थे। और ये सामंती संस्कार उनमें कूट कूट कर भरे थे। उनके इस व्यक्तित्व की छाया की चपेट में सभी घरवाले आते थे। मैं कुछ ज्यादा आता था। मुझे अचरज होता है कि उसी समाज व्यवस्था का हिस्सा होने के बावजूद मेरे बाबा और भाया के तीनों भाईयों का जीवन सहज किसानी भावबोध वाला जीवन था। पितृसत्ता और सामंतवाद की खराबियाँ उनमें मुखर नहीं थीं।

जैसे-जैसे जीवन आगे बढ़ा भाया के साथ संबंध जटिल होते चले गए। मैंने नौकरी नहीं की, यह उन्हें बुरा लगा। खेती करना चाहा, यह और भी बुरा लगा। उनकी सम्पत्ति में वे जैसा चाहते थे वैसा कुछ भी नहीं जोड़ा तो वे कहते हैं कि मैंने घर की मिट्टी कर दी। दूसरा यह कि अगर मैं भी गाँव ही रहा होता, शहर नहीं आया होता, पढ़ा-लिखा नहीं होता तो मैं शायद भाया की दुरुस्त फोटोकॉपी होता। मैंने जीवन में एक सामन्ती किरदार निभाया होता तो उन्हें अच्छा लगता। मैं वैसा नहीं हो सका, इस टकराहट से पैदा होने वाली उदासी और उदासीनता दोनों तरफ रही। यह ग्राफ कभी नीचे नहीं आया।

जारी...

क्या कोई ऐसी चीजें हैं जिनके बारे में लगता है कि ये चीजें हैं, जिन पर टकराहट है और ये चीजें तो बिल्कुल भाया जैसी ही हैं?

पहले उन चीजों की बात करते हैं जो मुझमें भाया जैसी है। भाया अपने समय में गाँव की कन्हैया की जोठ में मेडिया (प्रमुख गायक) थे। गाने का उनका शौक आज तक चला आता है। वे हमारे इलाके के कंदैया, पद, ढाँचा आदि किसी भी शैली के गीतों को अच्छा गा लेते हैं। उनकी आवाज भी अच्छी है। मेरी आवाज अच्छी नहीं है लेकिन इलाके के कन्हैया, पद ढाँचा यह सब गाने का शौक पूरा है। गीत कविता लिखने का शौक तो है ही।

भाया बेहतरीन किस्सागो हैं। किसी भी मामूली बात को अपनी बेहतरीन किस्सागोई से सुनने सुनाने लायक बना देने का हुनर उनमें है। वर्णन की कला उन्हें आती है। यह बात कमोबेश मुझमें भी है। आगे चलकर तो बच्चों और शिक्षकों के बीच कहानी सुनाना मेरे काम का हिस्सा भी हो गया। बच्चों के लिए कहानियाँ तो लिखी ही हैं।

इससे मुझे लगता है कि जिन्दगी ने अवसर दिए होते तो उनमें ये जो रचनात्मक बातें थीं निखर सकती थीं। उन्होंने इलाके के गीतों की ही किसी परम्परा का पीछा किया होता तो जानेमाने गवैया तो हो ही सकते थे। लेकिन जैसी घोर गरीबी उन्होंने देखी थी। गरीबी के जीवन के अपमानों को देखा था, उन्होंने पैसे का पीछा किया। गाँव में पहला डाक घर खुला तो वे अपनी दसवीं की डिग्री के चलते पत्र वाहक हो गए। पढ़े लिखे वे दसवीं तक ही हैं। विभागीय परीक्षा देकर क्लर्क हो गए, पोस्टमास्टर के पद से रिटायर हुए। वह नौकरी न मिली होती तब भी वे गाँव में ही दुकान खोलकर बैठ गए थे। कुछ साल दुकान की। उनके इन संघर्षों की बदौलत ही मैं विश्वविद्यालयी पढ़ाई तक पहुँच पाया।

अब वे बातें जो मुझमें भाया जैसी नहीं है। एक तो यह कि भाया बहिर्मुखी हैं और लड़ाकू हैं। लोगों से उनकी मौखिक लड़ाईयों के किस्से तो अंतहीन हैं। मारपीट के किस्से भी कम नहीं है। और ऐसा उनमें उनके बचपन से है। हाल ही में अस्सी साल की उम्र में भी पिछले दिनों गाँव में एक पुलिस वाले को पीट दिया है। पुलिस वाला पिये हुए था और अकड़ रहा था। मैं न तो लड़ाकू हूँ न बहिर्मुखी।

पितृसत्ता और सामंती संस्कारों के चलते कमजोरों और स्त्रियों के प्रति जो उनका नकारात्मक और उत्पीड़न वाला व्यवहार है, वह भी मुझमें नहीं है।

मैंने देखा है कि जो तुमसे थोड़े अलग से दिखते व्यक्ति होते हैं, अलग से मतलब, अलग पृष्ठभूमि के, अलग एक्सपोजर वाले हो सकते हैं, क्लास में अलग हो सकते हैं या अलग तरह के अनुभव वाले लोग हो सकते हैं। मैं यह पाता हूँ कि प्रभात उनके साथ बहुत सहज नहीं हो पाता, ऐसा क्यों है?

पता नहीं, शायद इसकी जड़ें माँ के अभाव के चलते असुरक्षित रहे बचपन में हो। क्योंकि कोई भी लड़ता या पीटता तो उस लड़ाई और पिटाई को चुपचाप सह लेने के सिवा कोई चारा नहीं था। बच्चों से माँ बहन की गाली देकर बात करना सामाजिक व्यवहार की सामान्य बात थी। वहाँ आज भी ऐसा ही है। या पता नहीं क्या वजह है। मुझे पहली बार में हर कोई मुझसे हर तरह से बड़ा और हर तरह से ज्यादा जानकार दिखलाई पड़ता है। तो जब तक किसी से अच्छा खासा परिचय नहीं हो जाता है मैं किसी के साथ सहज नहीं हो पाता हूँ।

पढ़ना-लिखना उतना ही है या उसमें कोई क्षरण हुआ है?

पढ़ने लिखने के मामले में पहले भी मेरी कच्छप गति ही थी। अब भी वैसी ही है। उसके लिए समय देने में जरूर कमी आयी है क्योंकि आजीविका के लिए किए जाने वाले छोटे छोटे काम भी बड़ा बड़ा समय खाते हैं। पढ़ने लिखने की चाहत में कोई कमी नहीं आयी है।

सरकारी नौकरियों को हमने बहुत तवज्जो नहीं दी बल्कि अपनी सहज गति में पानी जिस तरह अपना रास्ता पाता जाता है वैसे ही हम अपने काम करते चले गए। जबकि हमारे ही दोस्त थे जो नौकरियों की तरफ चले गए। मैं जिस लाइन में हूँ, प्रमोद जिस काम को कर रहा है, तुम कर रहे हो वह हमने नहीं चुना। तमाम योग्यताओं के बाद भी समाज में जो अवसर हैं वे हमें मिले नहीं। तुम अभी जैसा जीवन जीते हो, क्या कभी कोई मलाल जैसा लगता है कि नौकरी होती तो मैं बेहतर रच पाता, बेहतर जीवन जी पाता। जो नहीं मिला उसके प्रति क्या भाव आते हैं?

नौकरी का तो तुम्हें याद होगा कि हम शिव कुमार, देवयानी के यहाँ बैठे हुए थे और



मैंने बताया था कि मैं नौकरी नहीं करना चाहता हूँ और गाँव में रहकर कुछ काम करना चाहता हूँ। मुझे पता था कि थोड़ी सी खेती है, गाँव में घर बना हुआ है, भाया ने बना दिया, वह मेरे लिए पर्याप्त था। इसी वजह से मैं दो बार गाँव गया भी, तो इस बात का मुझे कोई मलाल नहीं है कि मैंने सरकारी नौकरी का रास्ता नहीं चुना। दूसरा यह कि मुझे नौकरी करनी होती तो जिन कामों में मैं गया वो मैंने इतने अच्छे से किए कि वहाँ नियमित नौकरी की संभावना मेरे पास खूब थी, लेकिन मेरे स्वभाव में नहीं है कि मैं नियमित नौकरी कर सकूँ। मुझे ऑफर खूब मिले नौकरी के लेकिन मैंने वह नहीं की। मैं तो चाहता था कि मैं लेखन करूँ। इसके अलावा जीवन में ना तो ओढ़ने-पहनने का, ना मकान-जायदाद का, किसी भी चीज का आकर्षण मुझे नहीं रहा। इसकी वजह क्या है, पता नहीं लेकिन यह मेरे स्वभाव में है। इस वजह से पैसे का अभाव रहा, मैं हमेशा कर्जे में रहा। यह जरूर लगता है कि आर्थिक रूप से थोड़ा मजबूत होता तो मैं अपने लेखन और पढ़ने के लिए ज्यादा समय निकाल पाता।

गाँव में रहने की तुमने सोचा था लेकिन वह कोई सुखदाई अनुभव नहीं था। गाँव रचनाओं में है लेकिन गाँव के जीवन को लेकर क्या कहना है? हमारे बचपन में हमें अच्छा लगता था लेकिन शायद तब इतनी जटिलता नहीं थी या थी तो वह बाद में समझ में आई।

दोनों ही बातें हैं। वयस्क होने पर वो जटिलताएँ, गाँव की राजनीति, आर्थिक-सामाजिक समीकरण समझ में आए। दूसरा यह है कि गाँव के हालात सरकारी आर्थिक नीतियों के चलते बदतर होते चले गए हैं। पहले किसान आज की तुलना में सुखी थे। अब नौकरियों के चलते कुछ लोग सुखी हैं लेकिन अधिकांश का जीवन कष्टों में है। बाजार और सरकारी आर्थिक नीतियों के गठजोड़ ने खेती को घाटे का सौदा बना दिया है। गाँवों को बदहाली के गर्त में धकेल दिया है। उसका परिणाम यह हुआ कि गरीबी ने व्यापक पैमाने पर हिंसा को जन्म दिया। गरीबी पहले भी थी लेकिन वह इतनी हिंसक नहीं थी। बेरोजगार पढ़े-लिखे लड़कों के गैंग बन गए हैं, वे लूट-पाट में आ गए। लूटपाट हमारे समय में एक नये व्यवसाय के तौर पर उभरी है। किसानी जीवन में एक समय में जो युवा गीत गाया करते थे, त्यौहारों और सांस्कृतिक अवसरों पर प्रस्तुतियाँ दिया करते थे वे आज गोलियाँ चला रहे हैं।

जो लोग शिक्षित होकर नौकरियों में गए, अधिकारी बने, उन्होंने केवल अपने घर भरे। गाँव के प्रति जिम्मेदारी नहीं निभाई। वे सोच सकते थे कि हम जैसे पढ़े-लिखे वैसे और लोग भी पढ़ें। वे बजाय इसके मंदिरों के बड़ा चंदा देते पाए गए। वे कहते पाए गए कि मंदिर में जितना लोहा लगेगा, पूरा मैं दे दूँगा। सीमेंट पूरा मैं दे दूँगा। कोई यह नहीं कहता कि स्कूल के लिए कमरा मैं बनवा दूँगा, बच्चों के लिए पुस्तकालय खुलवा दूँगा या मैं अपने गाँव में आधुनिक चेतना की कोई बात करूँगा। ऐसे अधिकारियों और प्याज के व्यापारियों के बीच चेतनागत कोई फर्क नहीं है। ऐसे में आज की तारीख में जो युवा मोबाइल, मोटरसाइकिल से लैस शिकारियों में बदल गए हैं, वे किसका शिकार करेंगे। जाहिर है हमारा ही। वे ऐसा कर रहे हैं और नाम कमा रहे हैं। मेरे गाँव में हत्यारे गैंगस्टर की गैंगवार में मौत के बाद उसके स्मारक के तौर पर दरवाजा बन चुका है। यह हत्या की संस्कृति की सामाजिक स्वीकृति की तरह है।



अगर हम याद करें कि हम जब उस दहलीज पर थे जहाँ किशोरवस्था खत्म हो रही थी और वयस्क जीवन शुरू हो रहा था। उस समय हिन्दुस्तान में बड़े स्तर कुछ घटनाक्रम भी चल रहे थे जैसे कि मुझे याद है हम कॉलेज में थे, सन् 1992 में, उस वक्त बाबरी मस्जिद का गिरना, उसके थोड़े पहले ही उदारीकरण का आना। इनके प्रभावों को एक लेखक के तौर पर, कवि के तौर पर क्या अपने मानस में दर्ज किया हुआ पाते हो? उसे कैसे देखते हो?

जारी...

उस समय जिस देशव्यापी संकट की शुरूआत हुई वह संकट लगातार गहराता गया। बाबरी मस्जिद को ढहाने के साथ बेहद आक्रामक हुई हिन्दुत्व की राजनीति आज क्रूरता में बदल गई है। जिसे उदारीकरण कहा गया, वह निरंकुश बाजारवाद में बदल गया है। इस गठजोड़ ने देश को जिस तरह से बर्बाद किया है, जो क्षति पहुँचायी है, वह किसी युद्ध से भी अधिक त्रासद है। युद्ध को समाप्ति के बाद देश फिर से संभलते हैं।

हिन्दुत्व की राजनीति ने इस बहु-सांस्कृतिक देश को जिस तरह से मानसिक तौर पर विभाजित कर दिया है। जो जहर दिमागों में भर दिया गया है, पता नहीं देश कब तक इसकी आग में जलता रहेगा। बाबरी मस्जिद के बाद, गुजरात के दंगे हुए बड़े पैमाने पर नरसंहार हुआ। दंगों के अपराधियों को राजनीतिक संरक्षण मिला, सजा के बजाय अपराधियों का माला पहना कर स्वागत करते हुए, अपराध को एक तरह को सामाजिक स्वीकृति दिलाने की कोशिश की गई। बिलकिस बानो के केस में हमने यही देखा। भारत की संसद में ऐसे लोग आ गए जो गाँधी के हत्यारे को माला पहनाते हैं। इस राजनीति ने गाय के नाम पर दलितों की हत्या को आसान कर दिया। हत्यारों को लगातार संरक्षण मिला। और अब तो संविधान को ताक पर रखकर, देश के कानून को परे धकेल कर सुनियोजित ढंग से एनकाउंटर के नाम हत्याएं हो रही हैं। अपराधी बाहुबलियों को ऐसा संरक्षण प्राप्त है कि उनके आगे कानून व्यवस्था सब फेल है।

यही वह दौर है जब पूँजीवादी कम्पनियों ने सत्ता के साथ मिलकर देश में लूटमार मचायी। कम्पनियों की हितकारी और किसानों के लिए विनाशकारी सरकारी आर्थिक नीतियों के चलते किसानों ने बड़े पैमाने पर आत्महत्याएं कीं। खेती की बर्बादी ने बड़े पैमाने पर लोगों को पलायन को मजबूर किया। बड़े बाँधों ने गाँव के गाँव उजाड़ तो दिए लेकिन उजड़े हुए लोगों के पुनर्वास को लेकर लापरवाही और अनदेखी ने जिन्दा लोगों को शिकार बनाया। अपने हक के लिए लड़ने वाले लोगों को नक्सलाइट, अर्बन नक्सल और देशद्रोही कहकर मारा गया, बदनाम किया गया, जेलों में डाला गया।

आज के वक्त को एक रचनाकार के तौर पर अगर देखना चाहो, रचना के द्वारा, जो रचा जा रहा है उसके द्वारा यानी हम जिस वक्त में रह रहे हैं, उसमें जो रचा जा रहा है, उसमें पैदा होने वाली रचनाओं को कैसे देखें? क्या वे आज के वक्त को संबोधित कर पा रही हैं या ऐसा लग रहा है कि ये निराश भी करती हैं?

रचना की ताकत और महत्व ही यह है कि वह अपने वर्तमान को ही नहीं, भविष्य की आहट को भी पहचान लेती है। मुक्तिबोध ने 'अँधेरे में' जैसी कविता लिखी। उनके समय में जो घटनाएँ अँधेरे में हो रही थी, आज हमारे समय में चौड़े धाड़े हो रही हैं। रघुवीर सहाय ने पहचान लिया था, 'रामदास की हत्या' जैसी कविता उस समय उन्होंने लिखी। अभी के समय में तुम देखो राजेश जोशी ने 'मैं हिन्दू हूँ और शर्मिंदा हूँ' जैसी कविता लिखी है जो हिन्दुत्व की राजनीति को प्रश्नांकित करती है। देवी प्रसाद मिश्र की 'मुसलमान' कविता है, या 'तानाशाह' कविता है, यह हमारे समय को कहती है।

अभी हाल में मैंने अरुंधती राय को चाहे वो 'एक था डॉक्टर, एक था संत' किताब हो और चाहे वो 'आजादी' किताब हो। चूँकि अनुवाद में आ गईं तो मैं पढ़ पाया। वे हमारे समय के खौफनाक मंजर को दिखाती हैं। उनका जो उपन्यास है 'अपार खुशी का घराना' वह उपन्यास के स्तर पर तो उनके ही 'गॉड ऑफ स्मॉल थिंग्स' के जैसा नहीं है लेकिन वह हमारे समय की भयावहता, हमारे समय के फासिज्म को आपके सामने बिल्कुल स्पष्ट करके रख देता है। इस तरह कुछ लोग हैं जो कर पा रहे हैं लेकिन बहुत कम लोग।

मैं बस समझने के लिए जानना चाहता हूँ कि हम लोग अंग्रेजी में हम अपना हाथ तंग पाते हैं। पढ़ना बहुत कम है और लिखना तो नहीं ही है, तो क्या कभी तुम्हें यह लगा कि इस भाषा पर मेरा और अधिकार होता तो मैं शायद ज्यादा पढ़ पाता, समझ पाता, बेहतर तरीके से मेरी रचनात्मकता को आगे बढ़ाने में मदद करता?

अंग्रेजी नहीं जानने का मलाल मुझे नहीं रहा। विदेशी साहित्य थोड़ा बहुत अनुवाद के जरिए मैं पढ़ लेता हूँ। मैं अंग्रेजी नहीं जानता लेकिन मैंने कुड़ुख, अवधी, बैगा, भीली, छत्तीसगढ़ी, बुन्देलखण्डी आदि भाषाओं के मौखिक परम्परा के साहित्य को जानने समझने की कोशिश की। हमारे देश के साहित्य और परम्पराओं को ही ठीक से नहीं जाना समझा, उन्हें जानने समझने की ज्यादा इच्छा है। ■



जन्म तिथि	:	10 जुलाई 1972
शिक्षा	:	स्नातक : हिन्दी साहित्य, अंग्रेजी साहित्य, राजनीति शास्त्र अधिस्नातक : हिन्दी साहित्य अन्य : राज्य स्तरीय व्याख्याता योग्यता परीक्षा (स्लेट) 2001, राजस्थान लोक सेवा आयोग, अजमेर
कार्यानुभव	:	उत्तर भारत की विभिन्न भाषाओं- (अवधी, वज्जिका, बैगा, कुड़ुख, छत्तीसगढ़ी, धावड़ी, भीली, बघेली, बुन्देलखण्डी, माड़ आदि) में लोक साहित्य का संकलन, दस्तावेजीकरण, सम्पादन, पुनर्लेखन। परम्परा से प्राप्त इस साहित्य से बच्चों के लिए लगभग पचास किताबों का प्रकाशन। प्राथमिक शिक्षा और पुस्तकालय के क्षेत्र में शिक्षकों और कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण। बच्चों के लिए रचनात्मक लेखन कार्यशालाएँ और शिक्षण सामग्रियों का विकास। (1998 से अब तक, समय-समय पर, ये सभी कार्य विभिन्न सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं के लिए किए।)
कृतियां	:	'अपनों में नहीं रह पाने का गीत' (कविता संग्रह) साहित्य अकादमी, नई दिल्ली से। 'जीवन के दिन' (कविता संग्रह) राजकमल से प्रकाशित। कहानीकार डॉ. सत्यनारायण के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर आधारित मोनोग्राफ राजस्थान साहित्य अकादमी से प्रकाशित। 'धवले: पद गायन परम्परा और लोक कवि धवले पर केन्द्रित' किताब रजा फाउण्डेशन के द्वारा सेतु प्रकाशन से प्रकाशित।
अनुवाद	:	अंग्रेजी, मैथिली, मराठी, पंजाबी आदि भाषाओं में कविताएं अनुदित।
बच्चों के लिए	:	एकलव्य, जुगनू, एनबीटी, रूम टू रीड, लोकायत आदि प्रकाशनों से बच्चों के लिए पानियों की गाड़ियों में, बंजारा नमक लाया, कालीबाई, रफ्तार खान का स्कूटर, साइकिल पर था कव्वा, घुमंतुओं का डेरा, अमिया, ऊँट का फूल, कैसा-कैसा खाना, लाइटनिंग, पेड़ों की अम्मां, आओ भाई खिल्लू, कुतुबमीनार का पेड़, रेगिस्तान में बस आदि तीस से अधिक किताबें।
सम्मान	:	'रेगिस्तान में बस' किताब के लिए विनोद कनोरिया अवार्ड, 2023 तक्षशिला बाल साहित्य सृजनपीठ (फेलोशिप), 2020 बिग लिटिल बुक अवार्ड, 2019 युवा कविता समय सम्मान, 2012 सृजनात्मक साहित्य पुरस्कार, 2010
अन्य	:	'स्टे' नाटक का लेखन और रवीन्द्र मंच जयपुर में मंचन। 'कालीबाई' नाटक का कई जगहों पर विभिन्न अवसरों पर मंचन। नुक्कड़ नाटकों का लेखन और प्रदर्शन। विभिन्न पाठ्यक्रमों में कविता, कहानी शामिल।
पता	:	205, जनकपुरी, ईदगाह के पीछे, नीमली रोड सवाईमाधोपुर-322001 (राजस्थान) मोबाइल : 9460113007, ई मेल : prabhaaat@gmail.com

प्रभात का कवित्व मरुभूमि में खिले उस दुर्लभ फू ल की तरह है जिसके साथ वैसी नमी वैसी धूप वैसा वातावरण और वैसा ही सराहने वाला मन चाहिए। प्रभात ने इस फू ल को खिलाने के लिए लगातार अपनी कविता की जमीन को अपने कच्चे अनुभवों और पक्की संवेदना से सींचा है। उत्तरोत्तर जीवन में गहरे धंसकर उन्होंने अपने अनुभवों को अपने प्रेक्षणों की आँच में पकाया है जो कि उनकी कविताओं में झलकता है। उनकी कविताओं में लोकवार्ता का सा आस्वाद है, लोकगीतों की सी संवेदना है। सरसों के फू ल जैसी आभा है, ढाणी की देशज प्रतीती है, स्वेद और श्रम से जुड़े जीवन के दिनों को उन्होंने अपनी आत्मा के उजास में रचा और सिरजा है। प्रभात ने जीवन की गतिविधियों को बहुत बारीकी से देखा है तभी धीमे चलते गडरिये की गति से जीवन की गति को अनुकूलित करके देखा है पर उनके यहाँ गडरियों, लोक गायिकाओं, लोक गायकों, लोक देवताओं, लोक कथाओं के केवल वृतांत भर नहीं, ये कविताएं समाज का एक गहरा क्रिटीक है। यहां सतही स्त्री विमर्श नहीं, समूची सामाजिक संरचना में स्त्री कहाँ है, यह देखने की कोशिश है।

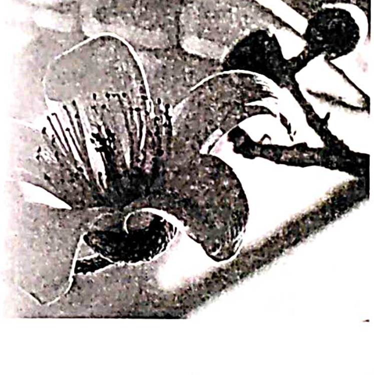
– ओम निश्चल (समालोचक ब्लॉक)

बाल-कविता

सेमल के फूल

धरती ने धीरे से बोला
ओ सेमल के फूल
क्या तुम्हें मेरा प्यार कबूल

सारे फूल छिटकते आए
बोले- कबूल कबूल



बातचीत चलते-चलते

अपने बारे में प्रभात?
इस प्रश्न का उत्तर संक्षिप्त नहीं हो सकता। दूसरे इंटरव्यूज में काफी कुछ कहा है।

शर्मिला, एकांतजीवी, लोगों से कम मिलना। दूसरी तरफ कोरस, पद गाना, बच्चों शिक्षकों के बीच कार्यशाला? प्रभात का मन ज्यादा कहाँ रमता है?
ज्यादा मन तो लेखन में ही रमता है डाक्टर साब।

बचपन का प्रभात, बीच का प्रभात, आज का प्रभात?
बचपन में जैसा था, बीच में न रह सका, आज फिर से उस बचपन जैसा हो जाना चाहता हूँ।

कैसा साहित्य, या कौनसी विधा का साहित्य पढ़ना रुचता है?
बात समझ में आ रही हो तो विधा कोई भी हो।

कोई कवि या लेखक जिसे बार बार पढ़ने का मन चाहता हो जो हर हमेशा साथ रहे।
शिम्बोर्स्का।

क्या सपने आते हैं? यदि हाँ तो कौनसे?
ज्यादतर डरावने सपने आते हैं। कमतर ऐसे जैसा जिन दिनों दिमाग में कुछ चल रहा होता है वैसे।

कैसे लोगों से मिलना अच्छा लगता है?
जिनमें अहंकार कम से कम हो।

एक बार (हँसी में) बातचीत में कहा था कि 'मैं सुनीता का पीए हूँ।' उसकी मेल चेक करना, जवाब देना। आज सुनीता की कला को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पहचान मिली है। प्रभात को कब लगा कि उसके भीतर के कलाकार को आगे लाना चाहिए।
उसकी मेहनत ही उसे आगे लायी है, मैं नहीं।

कई बार प्रभात स्वयं के ही प्रति अराजक हो उठता है। आत्महंता प्रभात? अराजक प्रभात? आखिर क्या है प्रभात?
कहीं न कहीं कमजोर हूँ भीतर से।

गाँव, सवाईमाधोपुर, जयपुर कई सालों से कई बार इनके बीच आयाजाही? आखिर कहाँ रहना चाहते हो और क्यों?
अपने घर में रहना चाहता हूँ, घर होते हुए भी घर में रहने का सुख नहीं मिला।

प्रभात चाहता तो सरकारी नौकरी मिल सकती थी? बाद में भी नौकरी मिली पर छोड़ते रहे। आखिर यह रास्ता क्यों चुना जहाँ आज भी अनिश्चितता है?
लेखन के अलावा जीवन में और कोई आकर्षण रहा ही नहीं। आजीविका के लिए काम करने ही पड़े तो मन के ही काम किए और उतने ही किए कि 'मैं भी भूखा ना रहूँ और कर्जा भी चुक जाय।'

प्रभात की बेचैनी? कवि की बेचैनी?
शायद कुछ नहीं। होती तो एकदम स्पष्ट होती और जुबान पर आ जाती।

किन लोगों के बीच सहज महसूस करते हो या उनसे संवाद करना?
पहले दोस्तों के बीच सहज महसूस करता था। समय के साथ वह भी जाता रहा। अब कहीं भी सहज महसूस नहीं करता। यह एक बीमारी की तरह हो गया है। संवाद किसी से नहीं होता। सहज संवाद कभी कभार मनोज, प्रमोद विश्वम्भर से हो जाता है। आपसे बात हो जाती है, कभी-कभार पदरज जी से। कभी कभार नितिन यादव या और नए लड़के आ जाते हैं। उनसे थोड़ी बहुत बातचीत हो जाती है।

भाया का बेटा प्रभात? खुशी नील का पिता प्रभात? पति प्रभात?
भाया के बेटे प्रभात का पीढ़ी के अंतराल वाला द्वन्द्व हमेशा रहता है। ऐसा ही शायद दोनों बच्चों का मेरे साथ भी हो। पति तो मैं अपना ही नहीं हूँ, सुनीता का कहाँ से होऊँगा। वह एक भली साथी है।

शराब पीने पर प्रभात? शराब न पीने पर प्रभात? दोनों ही प्यारे प्रभात पर प्रभात के लिए कौनसा प्रभात?
शराब पीने पर रोक टोक को बर्दाश्त करना मेरे लिए मुश्किल रहा है। शराब से बाहर आना जानलेवा ढंग से मुश्किल रहा है। इसी चीज ने मुझे बर्बाद कर दिया है। शराब न पीने पर मैं लगातार अपना काम करता हूँ। मेरे कामों में घर की साफ सफाई और अन्य घरेलु काम भी प्रमुख है। अब तो बिना शराब पीने वाले प्रभात की ही शरण में हूँ। देखें कब तक यह शरणगाह रहती है।

कविता कब उपजती है?
तनाव में।

आगे की कोई योजना?
योजनाएँ तो पीछे भी बहुत थीं। सब कुछ संभव हो नहीं पाता है। लोग मिल गए तो अपनी भाषा में रचे अपने पदों को गाना चाहूँगा।

आखिर इस चाकू समय में कवि प्रभात क्या सोचता है?
इस डरावने के समय के बारे में ही सोचता रहता हूँ।

व्यक्ति प्रभात की कोई चाहना?
मेरी वजह से कोई आहत हो, ऐसी कोई गलती मुझसे न हो।

कोई पछतावा?
शराब। ■



पंख

'तुम कहकर छींका करो। बिना बताए छींकती हो तो मैं डर जाता हूँ।' बूढ़े ने कहा।

'हाँ लेकिन मैं बताऊँ उससे पहले ही छींक आ जाती है। मैं क्या करूँ!' बुढ़िया बोली।

'तुममें बस यही एक कमी रही है कि तुम मानती नहीं हो।' बूढ़ा बोला।

'अब तुम इतना भी नाराज मत होओ प्रिय। वैसे भी मैं साल में एक-दो बार से अधिक नहीं छींकती।' बुढ़िया बोली।

'हाँ, लेकिन तुम गर्मियों में छींकी थी। मैं छत का पंखा ठीक करने में लगा था। रसोई में तुम छींकी और मैं कमरे में स्टूल से गिर गया था। तुम ऐसा क्यों छींकती हो प्रिये कि मैं लड़खड़ा कर गिर ही जाऊँ।' बूढ़े ने कहा।

'अच्छा लेकिन हमारी सर्दियाँ तो चैन से कटी थी।' बुढ़िया बोली।

'खाक चैन से कटी थी सर्दियाँ। तुम्हें याद है एक रविवार की दोपहर तुम छींकी थी और दड़बे के अण्डे में से चूजा निकल गया था।' बूढ़ा बोला।

'ये तो तुम हद कर रहे हो। चूजा मेरे छींकने की वजह से नहीं निकला था।' बुढ़िया बोली।

'तो फिर कैसे निकला था?' बूढ़े ने पूछा।

'मुझे क्या मालूम कैसे निकला था। कमाल करते हो तुम।' बुढ़िया बोली।

'तुममें यही एक कमी रही है तुम किसी बात को मानती ही नहीं हो। जब मैं कह रहा हूँ कि जैसे ही तुम छींकी अण्डे में दरार आ गई थी और उसमें से चूजा बाहर निकल गया था।' बूढ़े ने कुछ गुस्से से कहा।

'ऐसा केवल तुम पुरूष होने की वजह से कह रहे हो समझे।' ऐसा कहकर बुढ़िया आँसू पोंछते हुए वहाँ से चली गई।

बूढ़ा अखबार पढ़ने लगा। मगर उसका अखबार पढ़ने में मन नहीं लगा। वह बुढ़िया के पास गया और बोला-'क्या मुझसे नाराज हो?'

'हाँ हूँ और रहूँगी।' बुढ़िया बोली।

तभी बूढ़े-बुढ़िया का बेटा और बहू वहाँ आ गए।

बेटा बोला-'तुम्हारे लड़ने-झगड़ने की वजह से हमारे बच्चों की पढ़ाई नहीं हो पाती।'

पास के कमरे में पढ़ रहे दोनों बच्चों-रीति और विचार- के कान गर्म हो गए, आँखें लाल हो गई। रीति ने पेंसिल की नोंक कापी में तोड़ दी। विचार ने कापी में कुछ लिखा और पन्ने को फाड़कर तोड़-मरोड़कर फेंक दिया।

बूढ़ा और बुढ़िया यह सुनकर खामोश हो गए। थोड़ी देर बाद बुढ़िया खड़ी हुई और बेटे से बोली-'लो संभालो अपना घर।'

फिर बूढ़े का हाथ पकड़ते हुए बोली-'चलो।'

'हाँ ठीक है!' कहते हुए बूढ़ा उसके पीछे-पीछे चलने लगा।

वे जंगल में चले गए। जंगल में उन्हें पक्षियों के गिराये पंख मिले। दोनों ने जंगल में घूम-घूमकर पंख इकट्ठे किए। उन पंखों से एक सुंदर झोंपड़ी बनायी।

सर्द हवाएँ चल रही थीं। बूढ़ा-बुढ़िया पंखों की गर्म झोंपड़ी में थे। वे दोनों अपने पोते-पोतियों को याद करते हुए बातें कर रहे थे।

तभी खिड़की से हवा का सर्द झोंका आया। बूढ़ा एकाएक काँपा और इतने जोर से छींका की पंखों की झोंपड़ी उड़ गई।

'कोई बात नहीं।' बुढ़िया ने कहा। 'हम फिर बना लेंगे। यहाँ बहुत पंख हैं।' ■

जीवन भी हमें अपने दिन दिखाता है

• राजाराम भादू

प्रभात उन थोड़े-से कवियों में है जो ज्यादा पढ़े जाते हैं। उसको मैंने कवि बनते और आगे बढ़ते देखा है। उसकी कविता शकुंतला सुनकर मैंने कहा था, यह हमारा आलोक धन्वा है। लेकिन ऐसा नहीं था कि वह कहीं आलोक धन्वा का अनुकरण कर रहा हो, बस लग रहा था कि एक संभावनाशील कवि हमारे बीच उभर रहा है। आज आलोक आलोक है और प्रभात प्रभात। दोनों की अपनी कवि-दृष्टि और अंदाजे-बयां है।

प्रभात का पहला संकलन आने में खासा समय लगा, तब तक वह हिन्दी की सभी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छप चुका था। संकलन आया तो बहुत अच्छे से आया (अपनों में नहीं रह पाने का गीत-साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2014) और इसका पर्याप्त नोटिस लिया गया। मैंने इस पर लिखा तो नहीं पर एक आयोजन में बोला। मेरी कोशिश रहती है कि लिखे की तरह अपने बोले हुए पर भी कायम रहूं। 'जीवन के दिन' शीर्षक से प्रभात का दूसरा संकलन राजकमल प्रकाशन से 2020 में आया है। उसकी कविता को लेकर इससे मेरी प्रभाव-अन्वितियां और पुष्ट हुई हैं। पहले संकलन में उसकी 1994 से 2011 तक की कविताएँ थी, प्रस्तुत संकलन में उसके बाद की कविताएँ हैं। इस तरह प्रभात अपनी सृजन सक्रियता के तीसरे दशक की ओर बढ़ रहा है।



प्रतिभा अपना रास्ता खुद बनाती है- प्रभात पर यह उक्ति बिल्कुल सटीक ठहरती है। अपने आत्म-संघर्ष में प्रभात ने एक स्वतंत्र आत्म विकसित किया है जिसकी आत्मकथा उसकी कविताओं में नहीं मिलती। वह जीवन के व्यापक संघर्ष से एकमेक होकर उसकी कविताओं में अन्तर्व्याप्त हो जाती है। इस अन्तर्व्याप्ति में आप व्यक्ति और कवि, व्यक्ति-संबंध और सृजन-संबंध के जटिल द्वंद्व को लक्षित कर सकते हैं, जहां उसका कवि रीतता और भरता रहता है। साथ ही अपने लोगों से अपनी आरगेनिक यूनिटी को गत्यात्मकता देता है। याद करें कि मुक्तिबोध की कविता में भी उनके अपने लोगों का संदर्भ बार-बार आता है।

पारंपरिक तरीके से देखें तो प्रभात की कविता का मूल स्वर करुणा प्रतीत होता है। क्रौंच वध प्रसंग से लेकर आह से उपजा होगा गान अवधारणाओं तक करुणा हमारे काव्य और सौंदर्यशास्त्र में एक उदात्त मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित है। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी में ऐलेजी (शोकगीत) और फारसी-उर्दू में मर्सियों की समृद्ध परंपरा है। चूंकि प्रभात की कविता में मृत्यु बहुत बार आती है, तो वहाँ शोकगीतों की प्रतिध्वनियां स्वाभाविक हैं। लेकिन मुझे लगता है, वहाँ करुणा से कुछ अधिक भाव-तत्व भी हैं। इन कविताओं में घटित त्रासदियां विषाद का एक गझिन राग रचती हैं और इससे उत्पन्न विवश आक्रोश कविताओं से निकलकर आपके भीतर प्रवेश कर जाता है। वहाँ जीवन के इतने मूल्यवान पक्ष हैं कि मृत्यु के अंधेरे में उनकी लौ और तेज दिपदिपाती है। दूसरे संकलन में शामिल खरगोश कविता में देखें कि आसन्न मृत्यु के खतरे के बीच फंसा यह नन्हा जीव कैसे शिद्दत से जीना चाहता है।

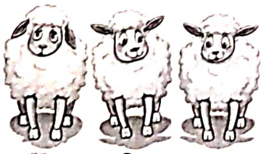
करुणा की प्रतीति अपनी परिधि में कुछ और संवेगों को भी समेटती है। वह सहानुभूति, दया और कृपा से भिन्न है जो कि संबंधों के वैषम्य में उपजते हैं। पीड़ित के प्रति समानुभूति (सहानुभूति नहीं) का एक सिरा कहीं अन्याय के प्रतिकार से भी जुड़ता है। संत कवियों की कविता में तो यह विद्रोह तक गया है। मीरा कहती हैं- अंसुअन जल सींच-सींच प्रेम-बेलि बोई, अब तो बेल फैल गयी, होबै सो होई। होबै सो होई-मीरा अपनी ही पीड़ा से साहस अर्जित करती है। करुणा का न्याय और नैतिकता से रिश्ता बनता है, वह बंधुत्व के लिए पुकार है, किन्तु कायरता से उसका कोई संबंध नहीं है।

प्रभात की कविता को लोक से जोडकर देखा जाता है, प्रथम दृष्ट्या इसमें कोई बुराई नहीं है। किन्तु लोक पद के साथ कुछ स्टोरिक, रूमान और रूढ़ियां भी सम्बद्ध रही हैं जिनसे मुक्ति के लिए प्रभात ने सचेष्ट संघर्ष किया है। यह सही है कि उसकी कविता की जड़ें अपने देश-काल में गहरे धंसी है। इनका काल तो वही है जिससे हमारा महादेश गुजर रहा है, देश जरूर एक अंचल पर केन्द्रित है। लेकिन एक बेहतरीन माइक्रो-स्टडी की तरह इसकी काव्य-निष्पत्तियां किसी भी देशज अंचल के संदर्भ में मौजूं हो सकती हैं। उसने कविता में ओझल यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए भाषा और विन्यास को नया अंदाज दिया है। वह अन्तर्वस्तु को तात्विक मीमांसा में ले जाता है और प्रासंगिक विमर्श का सूत्रपात करता है, मसलन एक पेड़ और पशु की मृत्यु भी अंततः मृत्यु ही है। यह मीमांसा उसकी शक्ति है।

कवि के विकास के मायने वस्तुत उसकी अन्तर्दृष्टि और संवेदना से ताल्लुक रखते हैं। दूसरों के अन्तर्मन और उनकी अनुभूतियों की टोह लेना मामूली काम नहीं है। इसके लिए मनुष्यों को ही नहीं प्रकृति और जीव जगत को पारदर्शिता में देखने की सामर्थ्य अर्जित करनी होती है। इन्हें समग्रतः देखना ही सौंदर्य-बोध है। सच्ची कविता प्रचलित नैतिकता को भी प्रश्नित करती है। प्रभात के पहले संकलन में शामिल कविता धाडैती अपराध की ओर धकेले गये लोगों के बीहड़ और विकट जीवन को उपस्थित करती है। ऐसे कई इतिवृत्त वहाँ हैं। प्रभात प्रसंगों (अनकडोट्स), परिघटनाओं और परिस्थितियों से काव्यात्मक अन्तर्क्रिया करता हैं और उनके सूत्रीकरण में प्रवृत्त होता है।

देशज ग्रामीण यथार्थ केवल धूसर और बदरंग ही नहीं बल्कि हिंसक और विकृत भी है। वहाँ पारस्परिक अंतरविरोध बढ़ते और विकट रूप लेते जा रहे हैं। वंचित और विपन्नों के अलगाव और हाशियाकरण की प्रक्रिया बड़ी तीव्रता से घटित हो रही है। इन कविताओं से गुजरते हुए आप समझ सकते हैं कि कवि के लिए उन लोगों को निरीहता की अवनति से बाहर लाना कितना चुनौतीपूर्ण रहा होगा। हमने जिस सूत्रीकरण की चर्चा की उससे इसमें मदद मिली है। प्रभात ने अपनी तरह से नैसर्गिक जीवन व मानवीय गरिमा और शक्ति व समृद्धि के नरक का विपर्यय रचकर प्रतिरोध की सृष्टि की है। प्रतिरोध का यह सिरा उसकी अपेक्षाकृत स्पष्ट राजनीतिक कविताओं में मुखर हो उठता है। दूसरे संकलन की अकेली लंबी कविता प्राथमिक शिक्षक में यह समग्रता से मौजूद है।

प्रभात की कविता में दो चीजों की ओर आपका और ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा। एक हैं उनकी कविताओं में आने वाली स्त्रियाँ, जो दिखती तो अमृता शेरगिल की प्रसिद्ध शबीहों में चित्रित श्रमरत दुखियारिनों जैसी हैं लेकिन भीतर से बहुत मजबूत और तेजस्वी हैं। इन कविताओं में एक स्त्री का जीवन चक्र भी मार्मिक रूप में दर्ज है, जहां दो व्यक्ति एक कन्या शिशु को क्षणिक संताप के साथ दफना आते हैं। दूसरी कविता में शिशु की मृत्यु से उद्विग्न स्त्री है जिसकी नींद उड़ी हुई है। एक और कविता में अपने खोये हुए बच्चे के शोक में घुलती स्त्री है। ऐसे बहुतेरे उद्वेलित करने वाले चरित्र हैं। दूसरी चीज पानी के संदर्भ है, जो वास्तव से रूपक में रूपान्तरित होकर इन कविताओं में अंतः प्रवाहित होता रहता है। उसके वास्तविक और प्रतीकार्थ को लेकर शायद कुछ ज्यादा कहने की जरूरत नहीं है। ■

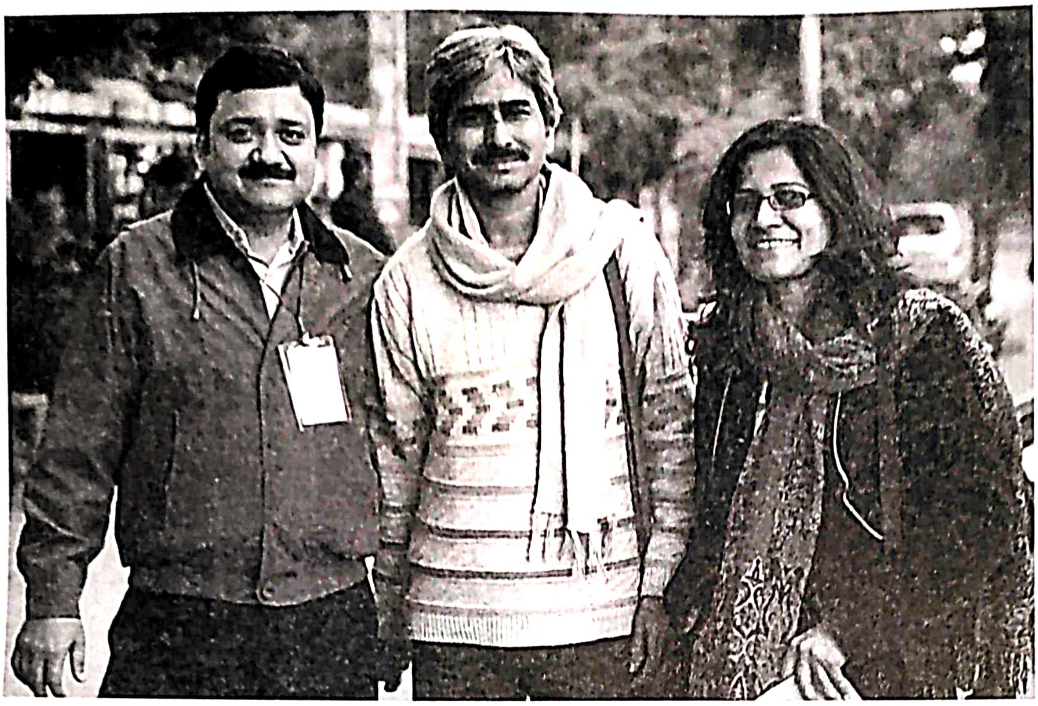


तफरी

बाल-कविता

भेड़ों को क्या हुआ
बदलियों जैसी भाग रही हैं
जाकर कहीं बरसना ही है
ऐसे भाग रही हैं

कहीं बरसना नहीं इन्हें
हमसफरी करनी है
इनको तो बस चरागाह में
तफरी करनी है



क्योंकि मेरी समस्त यादें सतायी हुई नहीं हैं

गिरिराज किराडू

यह अकेले आदमी की बस्ती
जिसे कहा जा रहा है विरक्ति।

प्रभात की कविताओं में आपका सामना एक ऐसी 'बस्ती' से होता है (मैं जान बूझकर यह कहने के बजाय कि प्रभात की कविताओं में आपका सामना एक ऐसी 'दुनिया' या 'यूनिवर्स' से होता है, यह कह रहा हूं कि सामना एक बस्ती से होता है, दुनिया या यूनिवर्स की तथाकथित विराटता की बजाय यह एक बस्ती है-'एक अकेले आदमी की बस्ती, बस्ती जिसे कहा जा रहा है 'विरक्ति')जिसमें मनुष्यों और प्रकृति और समाज की पारम्परिकताओं में एक अर्थ-विचलन आ गया है, इस कविता बस्ती में 'जलमुर्गियां' और बतखें जीवन काट रही हैं जाने किन राहत शिविरों में; इनमें कभी संगीत 'सुनने और देखने के कारखाने'; में धीमा पड़ जाता है, कभी किसी को याद करने पर बेचैनी से बंद हो जाते हैं दुनिया के सभी दरवाजे कोई किसी जलते घर में इसलिए घुस रहा है कि 'आशा न हो तो कौन घुसे किसी जलते हुए घर में'; जिसमें एक झोंपड़ी में इतनी जगह शेष है कि 'बीस आदमी आकर खड़े हो सकें' लेकिन जिनके 'वीराने हाहाकार' में किसी को आने नहीं देना चाहता कवि और फिर भी आ ही जाते हैं चींटी, गाय, कुत्ते (गौर करें मनुष्य नहीं) जिन्हें मना करने में (गौर करें मनुष्यों को नहीं) 'हिचक होती है कवि को और यह हिचक ही है' 'अनंत मामलों में मेरे चुप रहने की वजह' जहां घर में झाड़ू लगने भी से आ जाता है 'अनोखा साफ सुथरापन' और ऐसा होते ही 'हूक उठती है किसी को बुलाने की' हालांकि 'घर आंगन में था उतना ही है', जहां एक पेड़ किसी पक्षी की सहायता नहीं कर सकता क्योंकि वह 'ठूंठ' है, जहां 'रात की आंख से चू आए खुशी के आँसू' से पता चलता है 'शिशिर' आ गया है जिसे 'त्वचा के बिल्कुल करीब' बिठाना चाहता है कवि; जहां 'शमशान पर बरसते हुए' निराश नहीं होती है बारिश और जहां अकेले आदमी की इस बस्ती में अगर

...रहना ही पड़ा तो रहूंगा
मगर ऐसे नहीं जैसे बेचारा
क्योंकि मेरी समस्त यादें
सतायी हुई नहीं हैं।

यह बस्ती ही इस कवि की दुनिया / यूनिवर्स है ऐसा देखने वाली आंख किसी पेड़ पर लटका दीजिए और फिर देखिए कि यह कविता दुनिया / यूनिवर्स की कल्पना एक बस्ती की तरह करती है, न सिर्फ अपने यह कि इसकी संरचना, इसका भूदृश्य एक बस्ती का है, इसको निर्मित करने वाले तत्व भी वे हैं जिनमें एक बस्ती आबाद / बर्बाद रहती है : आत्मीयता, घुटन, असहायता, गरीबी ('जिसे लम्बा करने की साजिश' चलती रहती है) आरोपित विरक्ति। यह एक पाठीय और पठनीय बस्ती भी है और अपने अन्यान्य पाठों से 'विरक्त' सबऑल्टर्न भी।

(2)

हिन्दी में बहुत सारी कविता / लेखन ईर्ष्या की संतति है। सफल, चमकती दुनिया और लोगों से चिढ़ता हुआ, अपनी क्रांतिकारी नैतिकता से उसका मखौल उड़ाता हुआ यह लेखन खुद कवि या कविता की सफलता (शुद्ध भौतिक और शुद्ध एब्सट्रैक्ट दोनों अर्थों में) पर न संदेह करता है न उसका मखौल उड़ाता है। इसलिए कविता के सर्वहाराकरण के समांतर कवि की समृद्धि इस परिदृश्य में सामान्य है। साधारण परिवारों और पृष्ठभूमियों से आया यह ईर्ष्यालु हिन्दी लेखक सर्वोच्च विश्वविद्यालयों, मीडिया समूहों, साहित्य अकादमियों, प्रकाशन गृहों में प्रभावशाली हो जाता है लेकिन ईर्ष्या है कि मरती नहीं (संजीव मिश्र की एक बेजोड़ कविता याद आती है जिसमें कवि सफल युवा लोगों की नफरत झेलता, सेरेब्रल एट्रोफी से बचने के उपाय पढ़ता हुआ, एंटी-डिप्रेसेंट गोलियों की जानकारी से लैस, कुछ क्या काफी रक्तचाप के साथ पहुंचता है, इक्कीसवीं सदी में, बीसवीं के हैंगओवर के साथ) इस 'साभ्यतिक', वर्ग-चिह्नित ईर्ष्या जितनी ही व्यापक है वह दूसरी ईर्ष्या जिसके कारण अक्सर लेखक दूसरे लेखकों को छोड़कर बाकी सारी कायनात से प्रेम करने लगता है।

प्रभात की इस बस्ती में ईर्ष्या नहीं है, यह कविता महानगर आ जाती है लेकिन आलीशान इमारतों और खाये, पिये लोगों से चमकते बिग बाजार और मॉल्स से ईर्ष्या नहीं करती। जैसे वह सब है ही नहीं। ईर्ष्या का यह इकॉलॉजिकल अभाव प्रभात की कविता को हिन्दी की एक बेहद अटपटी और ऊंची कविता बनाता है।

(3)

तुम्हारे इस अहसास के लिए
जगह बनाना मुमकिन नहीं रहा होगा
कि तुम विरक्त हो रहे हो
याद में पारिभाषित हुआ होगा कि तुम
विरक्त हो

इस कविता का जीवन/ मृत्यु बोध अनुरक्ति के नित नए आविष्कारों और आरोपित 'विरक्ति' की वि-भक्ति से बना है; विभक्ति के दोनों अर्थों (टूटन और विशिष्ट संयोग) से। यह शोक और श्लोक की वि-भक्ति है।

(4)

हिन्दी में इन दिनों 'लोक' और नगर / मेट्रोपोलिस के द्विकविरोध और लोक-संवेदना की प्रदत्त प्रतिरोध-धर्मिता को लेकर साहित्यिक कैननाईजेशन का एक प्रयास शुरू हुआ है। वह प्रयास प्रतिरोध की असली साईट के रूप में लोक की प्रतिष्ठा और प्रतिरोध के 'असली' कवियों के रूप में लोक-संवेदना वाले कवियों की प्रतिष्ठा का आयोजन है। और मुझे यह देखकर कोई आश्चर्य नहीं कि लोक के इतने संश्लिष्ट कवि प्रभात का (प्रभात और मनोज कुमार झा जैसे कवि कितने विरल हैं जिनकी कविता में लोक केवल प्रतिरोध या उत्सव / सजावट या नॉस्टेल्जिया की नहीं, सृजन की भूमि है। उतना ही विरल है ऐसा सबआल्टर्न स्वर जिसकी समस्त यादें सतायी हुई नहीं हैं।) इस बहस में कोई स्मरण नहीं है।

मुझे इस बात पर भी कोई आश्चर्य या अफसोस नहीं कि जहां हर दूसरा युवा कवि ऐसा है जैसा पहले कभी नहीं हुआ, जहां हर तीसरा युवा कवि मुक्तिबोध या रघुवीर सहाय का सर्टिफाइड उत्तराधिकारी है, उस परिदृश्य की महत्वपूर्णताओं, विशेषांकों, पुरस्कारों आदि की सूचियों में भी यह कवि नहीं होता। यह प्रभात की कविता की शक्ति है कि वह उस सब में नहीं है।

यह कवि आज्ञाकारी, विमर्श-सुलभ, स्पर्शकातर, मुख्यधारा कविता लिखने में असमर्थ है। इसका जीवन / मृत्यु बोध इतना संश्लिष्ट है कि जिस तरह के सरलमति बाईनरी समीकरणों पर हिन्दी का अधिकांश 'आलोचना' व्यापार चलता है वह उसके लिए 'अपठनीय' है। वह सामाजिकताओं / निजताओं, लोक / नगर, प्रगति / कला, मनुष्य / मनुष्येत्तर के सुलभ विरोध या उसके मासूम एकत्व का नहीं, उनके गहरे संश्लेषण का कवि है। उसकी निराशा और आशा के स्रोत निराले हैं : वह हर 'परछाई में आशा' देखता है और निराशा होने होने का सबक / प्रेरणा 'श्मशान पर गिर रही बारिश' से पाता है।

क्यों? आखिर क्यों हो निराश?
क्या शमशान पर बरसते हुए
बारिश निराश होती है? ■

प्रभात से बात करना जैसे अपने से बात करना। इस खोड़ली दुनिया के बीच उसका यह आत्मीय चेहरा। फोन पर ठहरी-ठहरी आवाज 'डॉ. साहब अपने को क्या करना' मेरा लगातार बड़बड़ाना। जाने क्या बक जाता हूँ। अंत में ऐसे कैसे पार पड़ेगी? मैं कहता हूं। 'देखते हैं डॉक्टर साहब' वह कहता है और मैं कुछ नहीं कह पाता।

- दुख किसी कांधे पर
13 जनवरी, 2015

निकलना 'बखत' का ऐसे समय में

डॉ. अर्जुन देव चारण पर एकाग्र 'बखत' के चौथे अंक का विमोचन समारोह जोधपुर में डॉ. मदन सावित्री डागा भवन में 18 फरवरी को हुआ, समारोह की अध्यक्षता करते हुए डॉ. मंगत बादल ने कहा कि सोशल मीडिया के स्क्रोल समय में बखत का प्रकाशित होना वक्त की आवश्यकता है, डॉ. अर्जुन देव चारण राजस्थानी साहित्य के पुरोधा है। बखत ने उन पर अंक निकालकर महती कार्य किया है। बीकानेर के 'कथारंग' के संपादक हरीश बी. शर्मा ने बखत के लिए अर्जुन देव चारण से लिए गए साक्षात्कार से संबंधित संस्मरण सुनाते हुए कहा कि वे ज्ञान का अकूत खजाना है। संपादक डॉ. सत्यनारायण ने साथी संपादक सवाई सिंह शेखावत का जिक्र करते हुए प्रस्तुत अंक व आगामी अंकों की योजनाओं की चर्चा की। कार्यक्रम का संचालन कवि व रंगकर्मी कमलेश तिवारी ने किया। माधव राठौड़ ने प्रकाशित पिछले अंकों के बारे में विस्तार से बताया। डॉ. गजे सिंह राजपुरोहित ने धन्यवाद ज्ञापित किया। इस अवसर पर शहर के गणमान्य साहित्यकार व प्रबुद्ध पाठक उपस्थित थे जिनमे श्यामसुन्दर भारती, मीठेश निर्मोही, डॉ. कौशलनाथ उपाध्याय, डॉ. फतेहसिंह भाटी, कालूराम परिहार, डॉ. सुमन बिस्सा, डॉ. पद्मजा शर्मा, दिनेश सिन्दल, कप्तान बारोवड़, दशरथ सोलंकी, वीणा चूंडावत, सुनीता गोदारा, दीपा परिहार, आशा पाराशर, शिवानी पुरोहित, शालिनी गोयल, पुखराज आर्य, डॉ. के.एल. रेगर, कैलाश कौशल, पूजा राजपुरोहित, सन्तोष चौधरी, जयपुर के कवि प्रभात, बृजेश अम्बर, प्रमोद वैष्णव, पुखराज आर्य, अशफाक फौजदार प्रमुख है।

बखत के प्रकाशित अंक को बीस रुपये के आमंत्रण मूल्य पर बिक्री के लिए रखा गया। दो सौ से अधिक अंक हाथों हाथ बिक गये, जो साहित्य के प्रति पाठकों की रुचि को दर्शाता है।

ज्ञान-गठरियां खोलता 'बखत' का संवाद : डॉ. गोपाल सहर

'बखत' का नाम वर्षों से सुनता रहा हूँ पर कभी देखने, पढ़ने को नही मिला। इस बार जब पता चला कि 'बखत' फिर प्रकाशित हुआ है। इस बीच कुछ समय गुजर चुका था। एक दिन मैने डॉ. सत्यनारायण को फोन किया और पूछा कि 'बखत' कहाँ से प्राप्त किया जा सकता है? उन्होंने कहा-बहुत कम प्रतियाँ बची है, पर मै भेजता हूँ। कुछ ही दिनो बाद 'बखत' मेरे हाथों में था। बखत का कलेवर देखकर ही मै खुश हो गया-टेब्लॉयड। सबसे पहले सत्यनारायण जी की 'बखत की बात' को पढ़ गया। सत्यनारायण की दृष्टि और 'बखत' की पृष्ठभूमि सहित भावी योजना की जानकारी प्राप्त हो गयी। कभी कभार ही प्रकाशित होने वाले 'बखत' के अपने समय के महत्वपूर्ण कवि राजेन्द्र बोहरा, कृष्ण कल्पित और विनोद पदरज पर केन्द्रित अंक प्रकाशित हो चुके है। यह चौथा अंक राजस्थानी भाषा के महत्वपूर्ण एवं सुप्रतिष्ठित कवि, आलोचक, नाट्यलेखक और निर्देशक डॉ. अर्जुन देव चारण पर एकाग्र है। संपादक का यहाँ प्रयुक्त 'एकाग्र' शब्द महत्वपूर्ण है। कभी कभार प्रकाशित होने वाले इस 'बखत' में कहीं न कही वर्ष, मास और तारीख का भी उल्लेख होता तो बरसो बाद 'बखत' और इस अंक के इतिहास को जानने समझने में मदद मिलती। खैर, सत्यनारायण जी ने 'बखत' के अर्थ को तारीख, वर्ष में बाधना उचित न समझा हो। वैसे यह संभव नही है। व्यवहारिक ज्ञान के लिए तारीख, महीना, वर्ष को उचित माना जा सकता है।

'बखत' के चौथे अंक में डॉ. अर्जुन देव चारण के साथ हुआ संवाद मुख्य है। यहाँ संवाद है, साक्षात्कार नहीं। 'बखत' के इस अक की तरह हर अंक संग्रहणीय ही होगा, परन्तु बड़े स्वरूप के 'बखत' को सभालकर रखना थोड़ा मुश्किल लगता है। मै स्वयं इस अंक को इस तरह संभालकर रखता रहा हूँ कि इसमे कही सल-झुर्रियाँ (फोल्ड) न पड़ जाएँ। 'बखत' के अंतिम पृष्ठ पर डॉ. अर्जुन देव की कविता 'खतरो' प्रतीकात्मक है। संवाद शैली के 'बखत' के इस अंक से गुजरने के बाद यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं कि संवाद के जरिये जो बातें खुलकर सामने आती है, वह किसी साहित्यकार पर बैठकर लिखे गये आलेखों में नहीं आती है। कोई लेखक किसी साहित्यकार पर एक जगह बैठकर अनुभवजन्य जो सोचता है, वह लिखता है और संवाद में बिना किसी औपचारिकता के बातो की नदियाँ न जाने कितने मोड़ मुड़ती हुई पत्थर, चट्टानों से टकराती, पेड़ों की धूप-छाव वाली झुरमुट में से गुजरती हुई बहती रहती है अनवरत। 'बखत' के चौबीस पृष्ठ पूरे हो जाने पर होता यह है, जो मेरे साथ भी हुआ कि पाठक स्वयं संवादकर्ताओं की टीम के साथ जुड़कर डॉ. अर्जुन देव से संवाद करने लगता है।

'बखत' नाम बहुत बढ़िया लगा : दीप्ति गुप्ता

सत्यनारायण जी के टैबलायड निकालने के जज्बे, लगन और धुन को सलाम कि 'तीन दशक' बाद 'बखत' निकाला और वो भी 'एकाग्र'-चारण जी पर।

अखबार निकालना कोई आसान काम नही। धन सबसे बड़ा उपादान है। उसको लेकर अनेक समस्याएँ और बाधाएँ सामने आती है। इंसान के पास परिकल्पना हो और यथेष्ट सामग्री भी, पर, धन न हो तो उत्साही सम्पादक / प्रकाशक को दस, बीस, तीस वर्षों तक भी नया अंक लाने की खुशनुमा घड़ी का इंतजार करना पड़ता है। ऐसी ही कोई बाधा, अड़चन सत्यनारायण जी के साथ रही होगी। पर, इतने वर्षों में अगला अंक लाने का जोश कायम रखना, उनके इस धैर्य और सामर्थ्य पर चकित हूँ। सत्यनारायण जी को हार्दिक बधाई और जिन पर यह एकाग्र प्रकाशित हुआ है 'उस विभूति' को नमन तथा हम तक इस अद्भुत साहित्यिक एवं साहसिक कार्य को पहुँचाने के लिए, कल्पित जी का शुक्रिया। 'बखत' नाम बहुत बढ़िया लगा।

बखत-बखत की बात : राजाराम भादू

सत्यनारायण को मैने 'बखत' से जाना था, वे पोस्ट स्टैंडर्ड का काम देख रहे थे। मैं उसकी मेलिंग लिस्ट में था राजेन्द्र साईवाल (पोस्ट के प्रकाशक) से परिचित था। पोस्ट के किसी अंक पर प्रतिक्रिया में चिट्ठी लिखी थी। उसके जवाब में पोस्ट के तीन अंक और सत्यनारायण का पत्र आया। कृष्ण कल्पित और राजेन्द्र बोहरा को तो जानता था, लेकिन विनोद पदरज को भी बखत से जाना। यह जानना एक रचनाकार के रूप में जानना है। व्यक्तिशः तो मैं सिर्फ बोहराजी से मिला था, बाकी सबसे, सत्यनारायण से भी, बाद के वर्षों में मिला। उनसे पत्राचार शुरु हो गया था, जो द्वारा ज्वाला कार्यालय अथवा खबरनवीस के पतों पर होता था। हालांकि खबरनवीस में उनके आने से पहले हम मिल चुके थे।

पत्रकारिता से सत्यनारायण की अनुरक्ति बहुत गहरी है। यह उनके मुश्किल दिनों का आलम्बन रही, सिर्फ इसलिए नहीं, क्योंकि उन्होंने लिखने की जो विधाएं चुनीं-रिपोर्ताज, शब्दचित्र, साक्षात्कार, यात्रा-वृत्तांत, डायरी-वे अखबारों के लिए अधिक अपील करती थीं। बल्कि ऐतिहासिक रूप से ये विधाएं पत्रकारिता से ही जनमीं हैं। वे कहानियों से इन विधाओं की ओर संतरित होते गये, आगे चलकर तो ये उनकी पहचान बन गयीं। यहां तक कि जोधपुर विश्वविद्यालय में भी उन्होंने जल्दी ही साहित्य के बरक्स पत्रकारिता पढ़ाने का दायित्व संभाल लिया। और अब फिर से बखत।

'बखत' अपने रूपाकार में ही टैब्लायड अखबार है, विषयवस्तु के लिहाज से तो साहित्यिक पत्रिकाओं जैसा ही है। पिछले दशकों से तो व्यक्ति-रचनाकार केन्द्रित पत्रिकाओं के अंकों का अनवरत क्रम चल रहा है। इसमें कोई बुराई भी नहीं है। लेकिन सत्यनारायण को यही फोर्मेट और प्रस्तुति का ढंग (एक रचनाकार पर केन्द्रित) रुचता है। बेशक, इस फोर्मेट में प्रस्तुति को आकर्षक बनाने में वे अपनी खास दृष्टि रखते हैं।

'बखत' का यह अंक राजस्थानी के शीर्षस्थ नाटककार अर्जुन देव चारण पर केन्द्रित है। उन्होंने दो दर्जन नाटक सिरजे हैं और राजस्थानी के इन नाटकों में से अनेक का देश भर में प्रदर्शन हुआ है। उन्होंने कविताओं के अलावा राजस्थानी भाषा में आलोचना को गंभीर विमर्श के रूप में प्रतिष्ठित करने में उल्लेखनीय योगदान दिया है। इस अंक में उनके तीन लम्बे साक्षात्कार और कविताएँ हैं।

साक्षात्कारों में अर्जुन सहजता से कई गंभीर वक्तव्य देते हैं। विधाओं में अंतर बताते हुए वे कहते है-नाटके में एक्शन होता है, अच्छा नाटककार शब्दों में दृश्य को बांधता है। शब्दों में क्रिया-एक्शन इन वर्डस। कविता में एक्शन नहीं होगा, वहाँ बिम्ब नहीं होंगे। यही नहीं उपन्यास में विवरण होगा, और कहानी में वर्णन। एक प्रसंग में वे कहते है कि जो गाली निकालता है, वह स्त्री-विरोधी है। जाहिर है कि उनका आशय गालियों में व्यक्त स्त्रियों के लिए व्यक्त आघात से है। परम्परा पर बोलते हुए वे कहते हैं, परंपरा तो निर्मल धारा होती है। उसमें गतिशीलता होती है, किन्तु रूढि अपने समय में ठहर जाती है जिसे मोह या अंधविश्वास के कारण लोग छोड़ नहीं पाते। उनकी धारणा है कि भारतीय लोक नाट्य परंपरा ही असल में भारतीय शास्त्रीय नाट्य परंपरा है, अर्थात नाट्य शास्त्र पर आधारित नाट्य परपरा का विस्तार है। नाट्य-आलेख के लिए वे कहते हैं, अगर किसी आलेख को पढ़ते हुए विजुअल बनने लगे तो वह नाटक है। मंगत बादल ने अगनसिनान की स्त्री-केन्द्रित लंबी कविताओं तथा कुछ और लंबी कविताओं को नृत्य-नाटिका जैसी बताते हुए सवाल किया है। अर्जुन देव के प्रत्युत्तर के बावजूद सवाल अपनी जगह लगभग बना रहता है। उनकी चर्चित किताब पंचम वेद पर भी कोई समीक्षा लेख अंक में होता तो बेहतर था। मुझे यह अंक पढ़ते हुए अर्जुन देव पर लिखे मालचंद तिवाड़ी के लेख याद आते रहे जो उनकी पुस्तक स्त्री का मुनष्यत्व में शामिल है। मेरी जानकारी में अर्जुन के कृतित्व पर उन्होंने बेहतर लिखा है।

बहरहाल, सत्यनारायण जी अपने प्रिय अभियान में सक्रिय हुए है। उनकी मित्र-मंडली का व्यापक संजाल है। उनमें से अनेक अपने को बहुत निकट मानते है। ऐसे में उनमें से तकरीबन हरेक की यह चाहत स्वाभाविक होगी कि वह भी भविष्य मे बखत के पन्नों पर नजर आये।



कोई तीन दशक बाद 'बखत' का नया अंक आया है : कृष्ण कल्पित

1984 के आसपास कवि सवाईसिंह शेखावत और कथाकार डॉ. सत्यनारायण ने बखत नाम से साहित्य का एक अनूठा टैबलायड अखबार निकाला था। उस समय बखत के तीन कवियों पर तीन अंक निकले थे। क्रमशः राजेन्द्र बोहरा (अब दिवंगत), कृष्ण कल्पित और विनोद पदरज पर।

इतने बरसों बाद अब बखत का नया अंक आया है जो राजस्थानी भाषा के विख्यात कवि, नाटककार अर्जुन देव चारण पर एकाग्र है। अर्जुन देव चारण यानी नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा के पूर्व अध्यक्ष हैं। साहित्य अकादमी, संगीत नाटक अकादमी से पुरस्कृत। इस बार अंक श्वेत श्याम की बजाय रंगीन छपा है। अंक में अन्य सामग्री के अतिरिक्त अर्जुन देव चारण से दो महत्वपूर्ण साक्षात्कार भी है। 1984 में मुझ पर प्रकाशित अंक जब मैने अपने पिता को पढ़ने के लिए भेजा था तो उन्होंने एक पोस्टकार्ड लिखकर अंक की तारीख की और कहा था कि इस अंक में कोई तारीख, महीना, साल नहीं छपा हुआ है। भविष्य में कोई पढ़ेगा तो कैसे पता चलेगा कि यह कब प्रकाशित हुआ? लगता है तीस साल पुरानी भूल-गलती साथ चली आई है। अर्जुन देव चारण पर प्रकाशित अंक में भी प्रकाशन वर्ष मुझे कहीं नहीं दिखा।

प्रस्तुति : माधव राठौड़

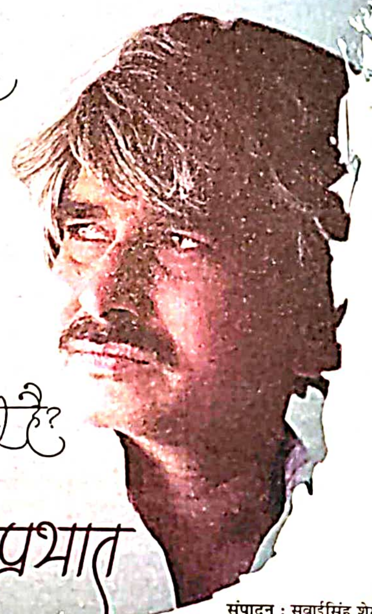


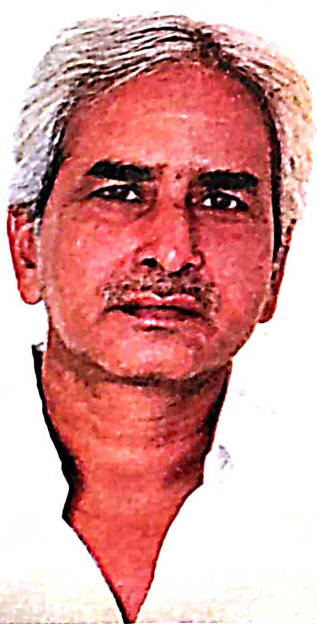
याद

जिन्हें माँ की याद नहीं आती
उन्हें माँ की जगह किसकी याद आती है
जिन्हें बहन की याद नहीं आती
उन्हें बहन की जगह किसकी याद आती है
याद नहीं आती जिन अभागों को अपने बाबा की
उन्हें बाबा की जगह किसकी याद आती है

बाज़ार
हिंसा
रचने वाली व्यवस्था
याद ही को नष्ट कर दे
अभी मैं मानने को तैयार नहीं हूँ

यही है वजह
मैं पूछता हूँ सबसे सब जगह
जिन्हें अपने गांव की याद नहीं आती
उन्हें गांव की जगह किसकी याद आती है?





प्रभात

संपादन : सवाईसिंह शेखावत और सत्यनारायण
सम्पर्क : 13, नेहरू नगर विस्तार, कमला नेहरू नगर के पास
अजमेर रोड, जयपुर-302021
मो. : 94141-32301, 75683-22301
प्रकाशक मुद्रक : सत्यनारायण के लिए रोहित ऑफसेट, 22 गोदाम, जयपुर से मुद्रित।
कम्प्यूटर लेआउट : बनवारी कुमावत

सीमित वितरण के लिए।